आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः षट्चत्वारिंशं रत्नम् ।

❀ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ❀

प. पू. आगमोद्धारक-आचार्यप्रवर श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीउमास्वातिवाचकविरचित

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र

[हिन्दी अनुवादसहित]

卐

संशोधकः—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-
शिष्य शतावधानी मुनिराज श्रीलाभसागरगणि

प्रतयः ५००] [मूल्यम् २=००

वीर सं० २४९७ वि० सं० २०२७ आगमो० २१

आगमोद्धारक-ग्रन्थमालायाः षट्चत्वारिंशं रत्नम् ।

❀ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ❀

प. पू. आगमोद्धारक-आचार्यप्रवरश्रीआनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीउमास्वातिवाचकविरचित

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र

[हिन्दी अनुवादसहित]

卐

संशोधकः—

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीमन्माणिक्यसागरसूरीश्वर-
शिष्य शतावधानी मुनिराज श्रीलाभसागरगणि

प्रतयः ५००] [मूल्यम् २=००

वीर सं० २४९७ वि० सं० २०२७ आगमो० २१

प्रकाशकः--

आगमोद्धारक ग्रन्थमाला के एक कार्यवाहक

शा. रमणलाल जयचंद

कपडवंज (जि० खेड़ा)

❀ द्रव्य-सहायक ❀

२५०=०० पू० मुनिराज श्री गौतमसागरजी म० के सदुपदेश से

सुराणा परतापसीभाई नी अन्तिम आराधना

प्रसंगे ह. शीवलाल परतापसीभाई

मुद्रकः--

शांति प्रिन्टर्स

जवाहर मार्ग रूट नं. २

इन्दौर नगर-२

प्रकाशकीय—निवेदन

प. पू. गच्छाधिपति आचार्य **श्री माणिक्यसागर-सूरीश्वरजी** महाराज की शुभनिश्रा में सं० २०१० में आगमोद्धारक-ग्रंथमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रंथमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्य कृपा से यह "तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र" हिंदी अनुवाद को आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला के ४६ वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के तत्त्वावधान में शतावधानी मुनिराज श्री लाभसागरजी गणि ने किया है। उसके बदल उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

—प्रकाशक

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१५	दशन	दर्शन
४	६	र्शन	दर्शन
७	६	इहादि	ईहादि
१०	७	पर्याय	पर्यायः
१७	११	नवाष्ट	नवाष्टा
१८	६	शमक	शमिक
१८	१०	लिग	लिंग
१८	२०	द्विविऽधो	द्विविधोऽ
२६	१७	सदेह	संदेह
२७	६	पूण	पूर्ण
२९	१०	धर्मा	धर्मा
३४	११	घट	घटे
३४	१६	नदन	नंदन
४६	१९	एशान	ऐशान
५२	५	शका	शंका
६०	१०	प्रशसा	प्रशंसा
६१	३	बध	बंध
६२	१०	धौव्य	ध्रौव्य
६४	२	सुवास	लुबास
७६	२१	तर्जना	तदर्जना
८०	७	ऊध्वधि	ऊध्वर्धि
८१	१३	सथारा	संथारा
८२	६	जीविताशसा	जीविताशंसा
८४	१३	सुग्व	सुख
८८	२१	बधाते	बंधाते
८६	८	दवेद	वेद
६०	२५	ते काय	तेउकाय
६६	१६	वाह्य	बाह्य
६६	२३	वृत्य	वृत्त्य
१०५	८	वन्ध	बन्ध
१०७	१५	में हैं	में जन्मा हुआ हैं
१०८	१३	तीर्थकर	तीर्थकरी

किंचिद्—वक्तव्य

यह तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शन में संस्कृतभाषा में सूत्रात्मक रचा हुआ आद्य ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्म के संपूर्ण सिद्धान्त बड़े लाघव से संग्रह किये गये है। इस सूत्र पर खुद का भाष्य और आ० श्री हरिभद्रसूरिजी, श्री सिद्धसेन गणि आदि आचार्यों ने रची हुई अनेक टीकाएँ है।

इस सूत्र के अध्याय २, सूत्र ३० का पाठ बहुत से मुद्रित पुस्तकों में 'एकसमयोऽविग्रहः' इस प्रकार अवग्रह सहित ऋजुगतिका द्योतक तरीके छपा है। वह टीका के साथ संगत नहीं हैं।

टीका में विग्रह कब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर रूप में उक्त सूत्र बताया है और उसका अर्थ–'एक समय का व्यवधान-अन्तर से अर्थात् एक समय बाद विग्रह होता है इस प्रकार बताया है। इससे उक्त सूत्र ऋजुगति को बताने वाला नहीं, किंतु विग्रहगति को बताने वाला है। यह बात पाठकों को ध्यान में रहे।

इस सूत्र के प्रणेता श्वेताम्बराचार्य वाचक श्री **उमास्वातिजी** है। वे ग्यारह अंग के ज्ञाता व श्री **धर्मघोषनंदि** के शिष्य और वाचक **शिवश्री** के प्रशिष्य थे और वे अत्यन्त माननीय है। इनके और जन्म-स्थलादि वृत्तान्त और ग्रन्थों से जानना। यह ग्रंथ जैनधर्म के तत्त्व समझने के लिए अत्युपयोगी है।

इस चीज को लक्ष्य में रखकर आगम सम्राट् बहुश्रुत ध्यानस्थस्वर्गत आचार्यश्री **आनन्दसागरसूरीश्वरजी म०** के सदुपदेश से वि० सं० **१९८३** के चतुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति **आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वर–**

जी म० के प्रथम शिष्य **मुनिराज श्री अमृतसागरजी म०** के आकस्मिक कालधर्म के कारण उन पुण्यात्मा कीं स्मृति निमित्त 'श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिति' की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था विशिष्ट ग्रन्थों को हिन्दी में रूपांतरित करके बालजीवों के हितार्थ प्रस्तुत किये जाय। तदनुसार श्राद्ध-विधि (हिंदी), त्रिषष्टीय देशना संग्रह (हिंदी) एवं धर्मरत्नप्रकरण (हिंदी) का प्रकाशन हुआ था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मुद्रण योग्य पुस्तिका के रूप में रह गया था। उसे पूज्य गच्छाधिपतिश्री की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। इसे पढ़कर पाठकगण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करें।

—संशोधक

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ
१— मोक्ष के साधन और सम्यग्दर्शन का लक्षण।	१
सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु तथा तत्त्व और निक्षेप के भेद।	२
तत्त्वों को जानने के उपाय।	३
सम्यग् ज्ञान के भेद ।	५
मतिज्ञान का स्वरूप और उसके भेद ।	६
श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद।	७
अवधिज्ञान का प्रकार और उनके भेद ।	६
मनःपर्याय ज्ञान के भेद ।	१०
मति आदि ज्ञान का विषय।	११
नय के भेद ।	१२
२— पाँच भाव, उनके भेद ।	१७
जीव का लक्षण और उपयोग के भेद ।	१८
जीव के भेद ।	१९
इन्द्रियनिरूपण ।	२०
इन्द्रियों के विषय और स्वामी।	२१
जन्म और योनि के भेद।	२३
शरीरों के संबंध में वर्णन ।	२४
आयु के प्रकार और उनके स्वामी ।	२७
३—नारकों का वर्णन ।	२९
मध्यलोक का वर्णन।	३३
मनुष्य और तिर्यंच की स्थिति।	३६
४—देवों का वर्णन।	४०
लोकांतिक देवों का वर्णन ।	५२
तिर्यंचों का स्वरूप और देवों की स्थिति ।	५३
५ अजीव के भेद ।	५६
धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेशों की संख्या और द्रव्यों के स्थिति क्षेत्र का विचार।	५७
धर्मास्तिकाय आदि के लक्षण ।	५९
पुद्गल के असाधारणपर्याय ।	६०
पुद्गल के प्रकार।	६१
सत् की व्याख्या।	६२

विषय	पृष्ठ
नित्यत्व का वर्णन और अनेकान्तस्वरूप का समर्थन।	६३
पौद्गलिक बंध के हेतु और द्रव्य का लक्षण।	६४
गुण का और परिणाम का स्वरूप।	६५
६—आस्रव का स्वरूप।	६६
सांपरायिक आस्रव के भेद।	६६
अधिकरण के भेद।	६९
ज्ञानावरण आदि कर्मों के बंध हेतुएँ।	७०
७—व्रत का स्वरूप।	७३
व्रत के भेद।	७४
व्रतों की भावनाएँ।	७४
हिंसा आदि का स्वरूप।	७६
व्रती के भेद।	७७
अगारी व्रत का वर्णन।	७७
सम्यग् दर्शन आदि के अतिचार।	७८
दान का वर्णन।	८२
८—बंध के हेतुएँ।	८३
बंध का स्वरूप और उसके भेद।	८३
कर्म के मूल और उत्तर भेद।	८४
कर्मों की स्थिति।	८७
अनुभाव और प्रदेश बंध का वर्णन।	८८
९—आस्रव का स्वरूप और उसके उपाय।	८९
गुप्ति का स्वरूप समिति और धर्म के भेद।	९०
अनुप्रेक्षा के भेद।	९१
परिसहों का वर्णन।	९३
चारित्र के भेद।	९५
तप का वर्णन।	९६
ध्यान का वर्णन।	९८
निर्ग्रन्थ के भेद।	१०१
१०—केवलज्ञान की उत्पत्ति के हेतु।	१०४
सिद्धयमान गति के हेतु।	१०६

॥ ॐ अर्हम् ॥

आगमोद्धारक-आचार्यश्रीआनन्दसागर सूरीश्वरेभ्यो नमः

॥ श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ॥

प्रथमोऽध्यायः

(१) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः ।

(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र ये मोक्षमार्ग हैं। ये तीनों इकट्ठे हों तब मोक्ष के साधन हैं, इसमें से कोई भी एक न हो तो वे मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। इनमें से पहले की प्राप्ति होने पर पिछले की प्राप्ति हो या न हो लेकिन पिछले की प्राप्ति हो जाने पर पहले की प्राप्ति निश्चय हो, (यानी दर्शन हो तो ज्ञान चारित्र हो या न हो, ज्ञान हो तो चारित्र हो या न हो, लेकिन चारित्र हो तो दर्शन ज्ञान जरूर होता है और ज्ञान हो तो दर्शन जरूर होता है) सब इन्द्रियों और अनिंद्रियों के विषय की भलीप्रकार से प्राप्ति वह सम्यग्दर्शन, प्रशस्तदर्शन वह सम्यग्दर्शन, युक्तियुक्तदशन वह सम्यग्दर्शन ॥

(२) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।

तत्वभूतपदार्थों की या तत्त्व से अर्थ (जीव व अजीवादि पदार्थों) की श्रद्धा वह सम्यग् दर्शन जानना, शम (१), संवेग (२), निर्वेद (३), अनुकम्पा (४) और आस्तिक्य (५) ये पांच लक्षण जिसमे हों उसको सम्यग्दर्शनी जानना।

(३) तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (यानी दूसरे के उपदेश बगैर स्वाभाविक परिणाम—अध्यवसाय) से या अधिगम (शास्त्र श्रवण-उपदेश) से होता है ।

(४) जीवाऽजीवाश्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ।

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं ।

(५) नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ।

भावार्थः—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जीवादि सात तत्त्व के निक्षेप होते हैं ।

विस्तार से लक्षण और भेद जानने के लिये विभाग करना वह निक्षेप कहा जाता है, जैसे कि—सचेतन या अचेतन द्रव्य का "जीव" ऐसा नाम देना वह नामजीव;" काष्ठ पुस्तक चित्र वगैरा में "जीव" ऐसी स्थापना करनी वह स्थापनाजीव, जैसे देव की प्रतिमा; गुण—पर्यायरहित, बुद्धि से माना हुआ, अनादि पारिणामिक भाव वाला जीव वह द्रव्यजीव (यह भांगा शून्य है क्योंकि अजीव का जीवपणा हो तब द्रव्यजीव कहलावे, जो हो नहीं सकता); औपशमिकादिभाव सहित उपयोग से वर्तता जीव वह भावजीव इस तरह जीवादि सब पदार्थों में जान लेना ।

(६) प्रमाणनयैरधिगमः ।

इन जीवादितत्त्वों का प्रमाण और नय से ज्ञान होता है । जिससे पदार्थ के सब देश जानने में आवे उसे प्रमाण और जिससे पदार्थ का एक देश जानने में आवे उसे नय कहते हैं ।

(७) निर्देश-स्वामित्व-साधना-धिकरणऽस्थितिविधानतः ।

निर्देश (वस्तु स्वरूप), स्वामित्व (मालिकी), साधन (कारण) अधिकरण (आधार), स्थिति (काल) और विधान (भेद संख्या) से जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है ।

जैसे-सम्यगदर्शन क्या है ? गुण हैं द्रव्य है; सम्यगदृष्टि जीव अरूपी है, किसका सम्यग दर्शन ? आत्म संयोग से, पर संयोग से और दोनों के संयोग से प्राप्त होता है । इसलिए आत्मसंयोग से जीव का सम्यग दर्शन; परसंयोग से जीव या अजीव का अथवा एक से ज्यादा जीवों या अजीवों का सम्यग्दर्शन; उभय (दोनों के) संयोग से जीव अजीव का सम्यग्दर्शन और जीव-जीवों का सम्यग्-दर्शन ।

सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? निसर्ग या अधिगम से होता है । ये दोनों दर्शन मोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होते हैं । अधिकरण तीन प्रकार का है । आत्मसन्निधान, पर-सन्निधान, और उभयसन्निधान, आत्मसन्निधान याने अभ्यन्तर सन्निधान, परसन्निधान याने बाह्यसन्निधान और उभय सन्निधान याने बाह्यऽभ्यन्तरसन्निधान ।

सम्यग्दर्शन किसमें होता हैं ? आत्मसन्निधान से जीव में सम्यग्दर्शन होता है, बाह्यसन्निधान से और उभयसन्निधान से स्वामित्व (किसका सम्यग्दर्शन) नामक द्वार में बताये हुए भांगे लेने ।

सम्यग्दर्शन कितने काल रहता है ? सम्यग्दृष्टि सादि सांत और सादि अंनत दो तरह का है; सम्यग्दर्शन सादि सान्त ही है, जघन्य से (कम से कम) अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से (अधिक से अधिक) कुछ अधिक छासठ सागरोपम काल तक रहता है; क्षायिक समकिती छद्मस्थ की सम्यगदृष्टि सादिसांत है और सयोगी अयोगी

केवली और सिद्ध की सम्यग् दृष्टि सादि अनंत हैं। सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है? क्षयादि तीन हेतु से तीन तरह का जानना। औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक, यह तीन प्रकार का सम्यक्त्व उत्तरोत्तर ज्यादा ज्यादा शुद्ध है।

(८) सत्सङ्ख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावा-ल्पबहुत्वैश्च।

सत् (सद्भूतपदप्ररूपणा,) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व इन आठ तरह के अनुयोगों से भी सब भावों का ज्ञान होता है।

वह इस तरह (१) सम्यग् र्शन है या नहीं? है तो कहाँ है? अजीव में नहीं जीवों में भी भजना (होता है या नहीं होता है) गति, इन्द्रिय, काय, योग, कषाय, वेद, लेश्या, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आहार और उपयोग। इन १३ अनुयोगद्वार में यथासम्भव सद्भूत प्ररूपणा करनी।

२ सम्यग्दर्शन कितने हैं? सम्यग्दर्शन असंख्यात है, सम्यग्-दृष्टि तो अनन्त है। ३ सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में होते हैं? लोक के असंख्यात भाग में होता है। ४ सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में स्पर्शा हुवा है? लोक के असंख्यातमा भाग, सम्यग्दृष्टि से तो सर्व-लोक स्पर्शा हुवा है; यहाँ सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन में क्या फर्क है? वह लिखते हैं—अपाय और सम्यक्त्व मोहनीय के दलियों से युक्त को सम्यग्दर्शन होता है। अपाय, मतिज्ञान संबंधी है यानी मतिज्ञान का भेद है, और उसके योग से सम्यग्दर्शन होता है वह (मतिज्ञान) केवली को नहीं है इसलिये केवली सम्यग्दर्शनी नहीं है लेकिन सम्यग्दृष्टि अवश्य है। ५ सम्यक्त्व कितने काल रहता है? एक जीव आश्रयी (अपेक्षा) जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट छासठ सागरोपम से कुछ अधिक, भिन्न भिन्न जीवों आश्रयी सर्वकाल। ६ सम्यग

दर्शन का विरह काल (गये बाद फिर आने के बीच का काल) कितना ? एक जीव आश्रयी (के हिसाब से) जघन्य अन्त-मुहूर्त, उत्कृष्ट अर्ध पुद्गलपरावर्त, भिन्न २ जीवों के हिसाब से अन्तर (समय की छेटी) नहीं। ७ सम्यग्दर्शन में कौनसा भाव होता है ? औदयिक, पारिणामिक, के सिवाय बाकी के तीन भावों में सम्यग्दर्शन होता है। ८ तीन भावों में रहे हुवे सम्यग्दर्शनी का अल्पबहुत्व किस तरह ? सबसे थोड़ा औप-शमिक भाव वाला होता है, उससे क्षायिक असंख्यात गुणा, क्षायोपशमिक उससे भी असंख्यात गुणा और सम्यग्दृष्टि तो अनन्ता हैं (केवली और सिद्ध मिलकर अनन्ता है जिससे)

(९) मति-श्रुता-वधि मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम्।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, और केवल ये पाँच ज्ञान के भेद हैं जिसका हाल (वर्णन) आगे लिखा जावेगा।

(१०) तत् प्रमाणे।

वे (पाँच तरह के ज्ञान) (दो) प्रमाण (प्रत्यक्ष-परोक्षरूप) में बटे हुए हैं।

(११) आद्ये परोक्षम्।

पहले दो मति–श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं। इन दोनों ज्ञानों में निमित्त (जरिये) की आवश्यकता होने से परोक्ष हैं। क्योंकि मतिज्ञान इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रिय (मन) निमित्तक है। और श्रुतज्ञान मतिपूर्वक और दूसरे के उपदेश से होता है।

(१२) प्रत्यक्षमन्यत्।

ऊपर कहे हुवे दो ज्ञान के सिवाय दूसरे तीन ज्ञान– (अवधि, मनःपर्याय, और केवल) प्रत्यक्षप्रमाण है। इन्द्रिय के जरिये

बगैर आत्मा को प्रत्यक्ष होने से ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण है। जिसके जरिये से पदार्थ जानें जावें वह प्रमाण कहलाता है, अनुमान, उपमान, आगम-अर्थापत्ति-संभव अभाव प्रमाण भी कोई मानता है। लेकिन यहाँ उनको ग्रहण न करके और पदार्थ के निमित्तभूत होने से मति-श्रुत ज्ञान रूप परोक्षप्रमाण में अन्तर्भूत होते हैं।

(१३) मति-स्मृति-संज्ञा-चिन्ता-ऽऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

मति (बुद्धि) स्मृति (स्मरण – याददास्त) संज्ञा (ओलख –पहचान) चिन्ता (तर्क) और आभिनिबोध (अनुमान) ये सब एक ही अर्थवाचक है।

(१४) तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम् ।

वह पहले कहा हुवा मतिज्ञान इन्द्रियनिमित्त और अनिन्द्रिय–निमित्तक (मनोवृत्ति–मनोज्ञान का) और ओघ ज्ञान है।

(१५) अवग्रहे-हा-ऽपाय-धारणाः ।

यह मतिज्ञान, अवग्रह (इन्द्रियों के स्पर्श से जो सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान होता है, वह), ईहा (विचारणा), अपाय (निश्चय), और धारणा इन चार भेदों वाला है।

(१६) बहु-बहुविध-क्षिप्र-निश्रिता-नुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् ।

बहु, बहुविध (बहुत तरह), क्षिप्र, (जल्दी से), अनिश्रित, (चिन्ह वगैर), अनुक्त, (कहे बगेर), और ध्रुव, (निश्चित), ये छ और उनके छ प्रतिपक्षि यानी अबहु (थोड़ा), अबहुविध (थोड़ी तरह), अक्षीप्र (लम्बे काल से) निश्रित (चिन्ह से), उक्त (कहा हुवा) और अध्रुव (अनिश्चित), इन बारा भेदों से अवग्रहादिक होता है।

(१७) अर्थस्य ।

अर्थ (स्पर्शनादि विषय) का अवग्रह आदि मतिज्ञान के भेद होते हैं।

(१८) व्यञ्जनस्याऽवग्रहः ।

व्यंजन (द्रव्य) का तो अवग्रह ही होता है।

इस तरह व्यंजन का और अर्थ का, दो प्रकार का अवग्रह जानना। इहादि अर्थ में ही होता है।

(१९) न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।

चक्षु और मन से व्यंजन (द्रव्य), का अवग्रह नहीं होता। लेकिन बाकी की चार इन्द्रियों से ही होता है।

इस तरह मतिज्ञान के दो, चार, अठाईस (२८ भेद को बहु वगेरा छ से गुणा करने से) एक सो अडसठ और (२८ को बारा भेद से गुणा करने से तीन सो छत्तीस भेद श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के होते हैं।

(२०) श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादश भेदम् ।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है वह दो तरह-अंगबाह्य, और अंगप्रविष्ट, उनमें से पहले के अनेक और दूसरे के बारा भेद है।

सामायिक, चउविसत्था, वंदनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, पच्चखाण, (आवश्यक), दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, (दशा-श्रुत स्कंध) कल्प (बृहत् कल्प), व्यवहार और निशीथसूत्र वगैरा महर्षियों के बनाये हुए सूत्र वे अंगबाह्य श्रुत अनेक तरह के जानने। अंगप्रविष्ट श्रुत के बारा भेद हैं वो इस तरह-(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (भगवती), (६) ज्ञातधर्म कथा, (७) उपासक-

दशांग, (८) अंतकृद्दशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक दशांग, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवादसूत्र।

अब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में क्या फरक है? वह यहाँ लिखते हैं:—

उत्पन्न हुआ नाश नहीं पाया ऐसे पदार्थ को ग्रहण करने वाला वर्तमानकाल विषयक मतिज्ञान है। और श्रुतज्ञान तो त्रिकाल विषयक है यानी जो पदार्थ उत्पन्न हुए हैं जो उत्पन्न होकर नाश पाये हैं और जो अब पीछे उत्पन्न होने वाले हैं उन सबको ग्रहण करने वाला है।

अब अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट में क्या भेद है? सो बतलाते हैं।

वक्ता के भेद से ये दो भेद होते हैं, वो इस तरह—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमर्षि ऐसे अरिहंत भगवानों ने परमशुभ और तीर्थ-प्रवंतनरूप फलदायक ऐसे तीर्थंकर नामकर्म के प्रभाव से कहा हुवा और अतिशय वाला और उत्तम अतिशय वाली वाणी और बुद्धि वाला ऐसा भगवंत के शिष्यों (गणधरों), का गूंथा हुवा वह अंग-प्रविष्ट. गणधरों के बाद के अत्यन्त विशुद्ध आगम के जानने वाले, परम प्रकृष्ट (अतिमहिमा वाला), वाणी और बुद्धि की शक्ति वाले आचार्यों ने काल, संघयण, और आयु के दोष से अल्प शक्ति वाले शिष्यों के उपकार के लिये जो रचा वह अंगबाह्य।

सर्वज्ञप्रणीत होने से और ज्ञेय पदार्थ का अनन्त पणा होने से मतिज्ञान के निस्बत श्रुतज्ञान का विषय बड़ा है।

श्रुत ज्ञान का महा विषय होने से उन-उन अधिकारों के आश्रय से प्रकरण की समाप्ति की अपेक्षा अंग उपांग के भेद हैं।

अंगोपांग की रचना न हो तो समुद्र को तैरने की तरह सिद्धांत का ज्ञान दुःसाध्य (मुशकिल) होता हैं इस वास्ते पूर्व, वस्तु,

प्राभृत, प्राभृतप्राभृत, अध्ययन और उद्देशे किये हुवे हैं।

फिर यहाँ शिष्य शंका करता है कि-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का एकसा विषय है जिससे दोनों एक ही है. उनको गुरु महाराज उत्तर देते हैं कि–पहले कहे मुजिब मतिज्ञान वर्तमानकालविषयक है और श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक है और मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान शुद्ध है, फिर मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक है और आत्मा के स्वभाव से परिणमता (रूपान्तर होता) है।

और श्रुतज्ञान तो मतिपूर्वक है और आप्त (विश्वास वाले) पुरुष के उपदेश से उत्पन्न होता है।

(२१) द्विविधोऽवधिः।

अवधिज्ञान दो तरह का हैं। १ भव प्रत्यय और २ क्षयोपशम प्रत्यय (निमित्तक)।

(२२) भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।

नारकी और देवताओं को भव प्रत्ययिक (अवधि) होता है। भव है कारण जिसका वह भव प्रत्ययिक। क्योंकि देव या नारकी के भव की उत्पत्ति यही उस (अवधिज्ञान) का कारण है। जिस तरह के पक्षियों का जन्म, आकाश की गति (उड़ने) का कारण है लेकिन उसके लिये शिक्षा या तप की जरूरत नहीं, इस तरह देव या नारकी में पैदा हुआ उसको अवधि जन्म से होता है।

(२३) यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

बाकी के (तिर्यंच और मनुष्य) क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान होता है। वह छ विकल्प (भेद) वाला है:— १ अनानुगामी (साथ नहीं आने वाला), २ आनुगामी (साथ रहने वाला),

३ हीयमान (घटने वाला), ४ वर्द्धमान (बढ़ने वाला), ५ अनवस्थित (अनियमित बढ़ता, घटता जाता रहे, उत्पन्न होय) और ६ अवस्थित (निश्चित–जितने क्षेत्र में जिस आकार से उत्पन्न हुआ हो उतना केवलज्ञान तक कायम रहे या मरने तक रहे वा दूसरे भव में साथ भी जावे । तीर्थंकरों को मनुष्य पणे उत्पन्न होती वक्त यह ज्ञान होता है ।

(२४) ऋजुविपुलमती मनःपर्याय ।

मनःपर्याय के १ ऋजुमति और २ विपुलमति ये दो भेद हैं.

(२५) विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।

विशुद्धि (शुद्धता) और अप्रतिपाति पणा (आया हुआ जाय नहीं) इन दो कारणों से उन दोनों में फरक है यानी ऋजुमति से विपुलमति विशेष शुद्ध है, और ऋजुमति आया हुआ जाता भी रहे लेकिन विपुलमति आया हुआ जाय नहीं ।

(२६) विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः ।

१ विशुद्धि (शुद्धता) २ क्षेत्र (क्षेत्र प्रमाण), ३ स्वामी (मालिक), और ४ विषय इन चार तरह से अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान में विशेषता (फरक) है ।

(अवधि से मनःपर्याय शुद्ध है । मनःपर्याय ज्ञान से अढ़ाई द्वीप और ऊर्ध्व ज्योतिष्क तक तथा अधो हजार योजन तक का क्षेत्र दिखे और अवधि से असंख्य लोक दिखे, मनःपर्याय का स्वामी साधु मुनिराज और अवधिज्ञान के स्वामी संयत या असंयत चारों गति वाले हो सकते हैं, मनःपर्यव से पर्याप्त संज्ञी के मनपणे परिणमाये हुये द्रव्य जाना जावे और अवधि से तमाम रूपी–रूप, रस,

गंध और स्पर्श वाले द्रव्य दिखते हैं। फिर अवधि ज्ञान से मनः- पर्याय ज्ञान का विषय-निबन्ध (सब रूपी द्रव्यों का) अनंत भाग में कहा है।

अवधि ज्ञान से मनःपर्यव ज्ञान ज्यादा शुद्ध है। जितने रूपी द्रव्यों को अवधि ज्ञानी जानता है उनके अनंत में भाग में मन पणे परिणमें हुए (मनोवर्गणा) द्रव्यों को मनःपर्यव ज्ञानी शुद्ध रीति से जानता है। अवधिज्ञान का विषय अंगुल के असंख्यात में भाग से लगाकर सब लोक क्षेत्र तक होता है और मनःपर्याय ज्ञान वाले का विषय अढ़ाई द्वीप तक ही होता है। अवधिज्ञान संयत असंयत चारों गति के जीवों को होता है और मनःपर्यव ज्ञान संयत (चारित्र वाले) मनुष्य को ही होता है। सब रूपी द्रव्य के अनंत में भाग के द्रव्य को यानी मनोद्रव्य और उसके पर्याय को जानने का है।

(२७) मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय कितनेक पर्यायों समेत सब द्रव्यों को जानने का है। मतलब यह है कि- वे सब द्रव्यों को जानते हैं, लेकिन उनके सब पर्याय को नहीं जान सकते हैं।

(२८) रूपिष्ववधेः।

रूपी द्रव्यों के विषय में ही अवधिज्ञान का विषय-निबन्ध है यानी विशुद्ध ऐसा भी अवधिज्ञान से रूपी द्रव्यों को ही और उनके कितनेक पर्यायों को ही जाने।

(२९) तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य।

उन रूपी द्रव्यों के अनंत में भाग से मन पणे परिणमें हुए मन द्रव्यों को जानने का मनःपर्यायज्ञान का विषय है।

(३०) सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।

सब द्रव्य और सब पर्याय केवलज्ञान का विषय है, वह सब भाव ग्राहक और तमाम् लोकालोक विषयक है इससे दूसरा कोई ज्ञान श्रेष्ठ नहीं

(३१) एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।

इन ज्ञानों में मत्यादि एक से लगाकर चार तक के ज्ञान एक साथ एक जीव में होते हैं।

किसी को एक, किसी को दो, किसी को तीन, किसी को चार, होते हैं, एक हो तो मतिज्ञान (यहाँ शास्त्र रूप ज्ञान होने से उसके बगैर भी मतिज्ञान लिया) या केवलज्ञान होता है। दो हो तो मति और श्रुतज्ञान होते हैं । क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसलिये जहाँ श्रुत होता है वहां मति होता है लेकिन मति होता है वहां श्रुत होता है या नहीं भी होता है। तीन वाले को मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत, मनःपर्याय और चार वाले की मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय होते हैं ।

पांच ज्ञान साथ नहीं होते हैं, क्योंकि केवलज्ञान होते हैं तब दूसरे ज्ञान नहीं रहते इसलियें, कितनेक आचार्य महाराज कहते हैं कि केवलज्ञान की मौजूदगी में चारों ज्ञान रहते हैं जरूर लेकिन सूर्य की रोशनी में नक्षत्र आदि की रोशनी भीतर आ जाती है उसी तरह केवलज्ञान की रोशनी में दूसरे ज्ञानों की रोशनी भी भीतर आ जाती है फिर कितनेक आचार्य कहते हैं कि ये चार ज्ञान क्षयोपशम भाव से होते हैं, और केवली को वह भाव नहीं हैं, केवलज्ञान तो क्षायिक भाव वाला है, इसलिये नहीं होते हैं।

तथा इन चारों ज्ञानों को क्रम से (एक के बाद एक करके) उपयोग होते हैं एक साथ नहीं होता और केवलज्ञान का उपयोग

दूसरे की अपेक्षा (मदद) बगैर एकदम होता है। आत्मा का इसी तरह का स्वभाव होने से ज्ञान दर्शन का समय समय उपयोग केवली को बराबर होता है।

(३२) मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन विपर्यय (विपरीत —उलटे) रूप से भी होते हैं यानी अज्ञान रूप होते हैं।

(३३) सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

मिथ्यादृष्टि को उन्मत्त की तरह सत् (विद्यमान) असत् (अविद्यमान) की विशेषता वगेरह विपरीत अर्थ ग्रहण किया हुवा होने से वे पहले के कहे हुवे तीनों (निश्च) अज्ञान माने जाते हैं।

(३४) नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं (समभिरूढ़ और एवंभूत सहित सात नय होते हैं)

(३५) आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ।

पहला (नैगम) नय दो तरह का देशपरिक्षेपी और सर्व परिक्षेपी और शब्द नय तीन तरह का सांप्रत समभिरूढ़ और एवंभूत है, उक्त नैगमादिक सप्त नय के लक्षण इस रीत से कहते हैं- देश में प्रचलित शब्द, अर्थ और शब्दार्थ का परिज्ञान वह नैगमनय देशग्राही और सर्वग्राही हैं. अर्थों का सब देशों में या एक देश में संग्रह वह संग्रह नय है, लौकिकरूप, औपचारिक और विस्तरार्थ का बोधक व्यवहार नय है, मौजूदा-विद्यमान अर्थों का कथन या ज्ञान वह ऋजुसूत्रनय है। शब्द से जो अर्थ में असंक्रम वह समभिरूढ़, व्यञ्जन और अर्थ में प्रवृत्त एवंभूतनय.

हर एक वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए हैं उनमें के अभीष्ट धर्म को ग्रहण करने वाला और अन्य धर्मों का अपलाप नहीं करने वाला जो ज्ञाता का अध्यवसाय विशेष वह नय कहलाता है। वह नय, प्रमाण का अंश होने से प्रमाण और नय का परस्पर भेद है जैसा कि समुद्र का एक देश समुद्र नहीं उसी तरह असमुद्र भी नहीं, इसी रीति से नय, प्रमाण भी नहीं और अप्रमाण भी नहीं लेकिन प्रमाण का एक देश है। वे नय दो तरह के हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक द्रव्य मात्र को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाते हैं, उनमें नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीन नयों का समावेश होता है और जो पर्याय मात्र को ही ग्रहण करते हैं वे पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं, उनमें ऋजुसूत्र, साम्प्रत, (शब्द) समभिरूढ़ और एवंभूत इन चार नयों का समावेश होता है।

सामान्य मात्र को ग्रहण करने वाला संग्रहनय है उसके दो भेद हैं। परसंग्रह और अपरसंग्रह। तमाम विशेष तरफ से उदासीन रहकर सत्तारूप सामान्य को ही ग्रहण करे वह परसंग्रह कहलाता है और जो द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्य ग्रहण करे वह अपर संग्रह कहा जाता है, संग्रह नय से विषयभूत किये हुए पदार्थों का विधान करके उनही का विभाग करने वाला जो अध्यवसाय विशेष वह व्यवहार नय कहलाता है, जैसे कि जो सत् है वह द्रव्य अथवा पर्याय स्वरूप है।

द्रव्य छः प्रकार का है और पर्याय दो प्रकार का है।

ऋजुसूत्र—ऋजु-वर्तमान क्षण में रहे हुए पर्याय मात्र को खास रीति से ग्रहण करे वह ऋजुसूत्र नय है, जैसा कि "अभि सुख" यह ऋजुसूत्र नय है, सुख रूप वर्तमान (मौजूदा) पर्याय ही को ग्रहण करता है। (काल, कारक, लिंग, कालादि की संख्या और उपसर्ग के) भेद से शब्द के भिन्न अर्थ को स्वीकार करने वाला

शब्दनय है, जैसे मेरुपर्वत था, है और रहेगा, यहां शब्दनय अतीत, वर्तमान, और भविष्य काल के भेद से मेरुपर्वत को भी भिन्न मानता है, पर्याय शब्दों में व्युत्पत्ति के भेद से भिन्न अर्थ को ग्रहण करने वाला समभिरूढ़ नय है, शब्दनय पर्याय का भेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न मानता है, लेकिन समभिरूढ़ नय पर्याय के भेद से भिन्न अर्थ को स्वीकार करता है, जैसा कि समृद्धि वाला होने से इन्द्र कहलाता है, पुर को विदारने से पुरन्दर कहलाता है।

शब्दों की प्रवृत्ति का कारणभूत क्रियासहित अर्थ को वाच्य तरीके स्वीकार करने वाला एवंभूत नय है, जैसे कि जलधारणादि चेष्टा समेत घट को उस वक्त ही घट तरीके मानता है, लेकिन जिस वक्त खाली घट पड़ा हो उस वक्त ये नय उसको घट तरीके स्वीकार नहीं करता।

इनमें से शुरू के चार (खास कर) अर्थ का प्रतिपादन कर्ता होने से अर्थनय कहलाता है, और पिछले तीन नयों का तो (मुख्य रीति से) शब्द वाच्यार्थ विषय होने से वे शब्दनय कहलाते हैं। दूसरी तरह भी नयों के भेद हैं, जैसे— विशेषग्राही जो नय हैं वो अर्पितनय कहलाते हैं, सामान्य ग्राही जो नय हैं वे अनर्पितनय कहलाते हैं।

लोक प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करने वाले व्यवहार नय कहलाते हैं और तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करने वाले निश्चय नय कहलाते हैं जैसा कि व्यवहार नय पांच रंग का भ्रमर होते हुए भी श्याम भ्रमर कहाता है और उसको निश्चय नय पांच वर्ण—रंग का भ्रमर मानता है।

ज्ञान को मोक्ष का साधन मानने वाला ज्ञान नय और क्रिया को उस तरह स्वीकार करने वाला क्रिया नय कहलाता है।

अब प्रसंग से नयाभास का स्वरूप बतलाते हैं :—

अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अभिप्रेत धर्म को ग्रहण करने वाला और उनसे उलटे धर्मों का तिरस्कार करने वाला नयाभास कहलाता हैं.

द्रव्य मात्र को ग्रहण करने वाला और पर्याय को तिरस्कार करने वाला द्रव्यार्थिक नयाभास कहलाता और पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला और द्रव्य को तिरस्कार करने वाला पर्यायार्थिक नयाभास कहलाता है.

धर्मी और धर्मों का एकान्त भेद मानने वाला नैगमाभास है, जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक दर्शन.

सत्ता रूप महा सामान्य को स्वीकार करने वाला और समस्त विशेष को खंडन करने वाला संग्रहाभास है, जैसा कि अद्वैतवाद दर्शन और सांख्य दर्शन। अपारमार्थिक पणे द्रव्य-पर्याय का विभाग करने वाला व्यवहाराभास है. जैसा कि चार्वाक दर्शन, जीव और उसके द्रव्य पर्यायादि को चार भूत से जुदा नहीं मानता सिर्फ भूत की सत्ता को ही स्वीकार करता है. वर्तमान पर्याय को स्वीकार करने वाला और सर्वथा द्रव्य को अपलाप करने वाला ऋजुसूत्राभास है, जैसे बौद्ध दर्शन. कालादि के भेद से वाच्य अर्थ के भेद को ही मानने वाला शब्दाभास है.

जैसा कि मेरु पर्वत था, है, रहेगा. ये शब्द भिन्न अर्थ को ही कहते हैं.

पर्याय शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ का ही स्वीकार करने वाला समभिरूढ़ाभास है, जैसा कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, वगैरा शब्द जुदा जुदा अर्थ वाले हैं. इस तरह जो माने वह समभिरुढ़ाभास कहलाता है. क्रिया सहित वस्तु को वाच्य नहीं मानने वाला एवंभूताभास है. जैसे चेष्टा रहित घट वह घट वाच्य नहीं.

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

पहले अध्याय में जीवादिक तत्त्व कहे, अब जीव और उनका लक्षण शास्त्रकार बतलाते हैं.

(१) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव ये तीन तथा औदयिक और पारिणामिक ये दो मिलकर पाँच ही भाव जीव के स्वतत्व है यानी जीव को यह भाव होते हैं (पारिणामिक और औदयिक भाव अजीव को भी होते हैं क्योंकि पुद्‌गलों के परिणमने और कर्मोदय से शरीर वगैरा होते हैं।

(२) द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्।

पूर्वोक्त औपशमिकादि भावों के दो, नो, अठारा, इक्कीस, और तीन भेद सिल सिले वार हैं।

पाँच सूत्रों से उन भावों के ५३ भेद सिलसिले वार बतलाते हैं

(३) सम्यक्त्वचारित्रे।

पहले औपशमिक भाव का समकित और चारित्र ये दो भेद है यानी औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

(४) ज्ञान-दर्शन-लाभ-भोगो-पभोग-वीर्याणि च।

केवलज्ञान (केवल ज्ञान-दर्शन और क्षायिक ज्ञान-दर्शन एक ही समझने, क्योंकि केवल ज्ञान-दर्शन क्षायिक भाव से ही प्रगट होते हैं)। केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यक्त्व और चारित्र ये नो भेद क्षायिक भाव के हैं।

(५) ज्ञानाऽज्ञान-दर्शन-दानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।

मति वगेरा चार प्रकार का ज्ञान, तीन प्रकार का अज्ञान, चक्षुर्दर्शनादि तीन प्रकार का दर्शन और पांच प्रकार की दानादि लब्धि तथा समकित, चारित्र और संयमासंयम (देशविरति पण) ये अठारा भेद क्षायोपशमक भाव के हैं।

(६) गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्व-लेश्या श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्-भेदाः ।

नारकादि चार गति, क्रोधादि चार कषाय, स्त्रीवेदादि तीन लिंग, मिथ्या दर्शन, अज्ञान, असंयतत्व, असिद्धत्व और कृष्णादि छः लेश्या मिलकर २१ भेद औदयिक भाव के होते हैं।

(७) जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ।

जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, वगेरा भेद पारिणामिक भाव के होते है।

आदि शब्द से अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, गुणत्व, असर्वगतत्व, अनादि कर्मबंधत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व, नित्यत्व, ये वगेरा भेदों का ग्रहण करना।

जीव का लक्षण.

(८) उपयोगो लक्षणम् ।

उपयोग यह जीव का लक्षण है।

(९) स द्विविधोऽष्टऽष्टचतुर्भेदः ।

वह उपयोग दो प्रकार का है। साकार और अनाकार वह फिर क्रम से १ साकार ज्ञान (५ ज्ञान ३ अज्ञान) आठ प्रकार का है।

२ अनाकार-दर्शन (चक्षु आदि) चार प्रकार का है।

जीव के भेद

(१०) संसारिणो मुक्ताश्च।

संसारी और मुक्त (मोक्ष के) इन दो भेदों के जीव हैं।

फिर दूसरी तरह जीव के भेद कहते हैं—

(११) समनस्काऽमनस्काः ।

मन सहित (संज्ञी) और मन रहित (असंज्ञी) ये भेद जीव के होते हैं।

(१२) संसारिणस्त्रसस्थावराः ।

त्रस और स्थावर इन दो भेदों के संसारी जीव हैं।

(१३) पृथिव्यब्वनस्पतयः स्थावराः।

पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय, ये स्थावर हैं।

(१४) तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः।

तेउकाय, वाउकाय ये दो, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय ये त्रस जीव हैं।

तेउकाय तथा वाउकाय स्वतन्त्र गति वाले होने से गति त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय वगेरा सुख-दुःख की इच्छा से गति वाले होने से लब्धि त्रस कहलाते हैं।

इन्द्रिये गिनाते हैं—

(१५) पञ्चेन्द्रियाणि ।

स्पर्शनादि इन्द्रियें पाँच है।

इन्द्र यानी आत्मा उसका चिह्न वह इन्द्रिय या जीव की आज्ञा के आधीन, जीव ने देखी हुई, जीव ने रची हुई, जीव ने सेवी हुई, वह इन्द्रिय जाननी।

(१६) द्विविधानि।

वे दो प्रकार की है।

(१७) निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।

निर्वृत्ति–आकार, इन्द्रिय और उपकरण–तलवार की धार की तरह साधन पणा रूप इन्द्रिय ये दो भेद द्रव्येंद्रिय के है।

अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से इन्द्रियों के अवयव होते हैं, और निर्माण नाम कर्म के उदय से शरीर के प्रदेशों की रचना होती है। द्रव्येन्द्रिय की रचना अंगोपांग तथा निर्माण कर्म के आधीन है। अंगोपांग और निर्माण नाम कर्म के उदय से विशिष्ट जो इन्द्रिय का आकार उसको निर्वृत्ति इन्द्रिय कहते हैं; उसके बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद है।

बाह्य निर्वृत्ति जाती भेद से अनेक प्रकार की है।

जैसा की मनुष्य के कान भ्रू की तरह नेत्र की दोनों बाजू है, और घोड़े के कान उसके ऊपर के भाग में तीक्ष्ण अग्रभाग वाले हैं अभ्यन्तर निर्वृत्ति में स्पर्शनेन्द्रिय तरह तरह के आकार वाली है। रसनेन्द्रिय खुरपा (उस्त्रे) के आकार की है, घ्राणेन्द्रिय अतिमुक्तक (पुष्प) के आकार की है। चक्षुरिन्द्रिय मसूर और चन्द्र के आकार की है। श्रोत्रेन्द्रिय कदम्ब पुष्प के आकार की है, स्पर्शनेन्द्रिय और द्रव्यमन स्वकाय प्रमाण है, और बाकी की इन्द्रिये अंगुल के असंख्य भाग प्रमाण वाली है। और स्वविषय ग्रहण करने की शक्ति स्वरूप उपकरणेन्द्रिय है।

(१८) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।

लब्धि—क्षयोपशम और उपयोग-सावधानता ये दो तरह की भावेन्द्रिय है. गति और जात्यादि कर्मों से, और गति जात्यादि को आवरण करने (ढकने) वाले कर्म के क्षयोपशम से और इन्द्रिय के आश्रयभूत कर्मों के उदय से जीव की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह लब्धि कहलाती है।

मतिज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से हुवा जो ज्ञान का सद्भाव वह लब्धि इन्द्रिय कहलाता है, और स्वविषय में जो ज्ञान का व्यापार उसे उपयोगेन्द्रिय कहते हैं, जब लब्धीन्द्रिय होती है तब उपकरण और उपयोग होते हैं, क्योंकि उपकरण का आश्रय निर्वृत्ति है और उपयोग उपकरणेन्द्रिय द्वारा ही होता है।

(१९) उपयोगः स्पर्शादिषु ।

स्पर्शादि (स्पर्श, रस, गंध, चक्षु, और श्रवण,—सुनना) के विषे उपयोग होता है।

(२०) स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ।

स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) रसनेन्द्रिय (जीभ), घ्राणेन्द्रिय (नासिका), चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र) और श्रोत्रेन्द्रिय (कान), ये पांच इन्द्रियें जानना।

(२१) स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उन (इन्द्रियों) के अर्थ-विषय हैं.

(२२) श्रुतमनिन्द्रियस्य ।

श्रुतज्ञान ये अनिन्द्रिय यानी मन का विषय है।

(२३) वाय्वन्तानामेकम् ।

पृथ्वीकाय से लगाकर वाऊकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय है

(२४) कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।

कृमि वगेरह, कीडी वगेरा, भ्रमर वगेरह और मनुष्य वगेरह को पहले के बनिस्बत एक एक इन्द्रिय ज्यादा है, यानी दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय नम्बर वार है ।

(२५) सञ्ज्ञिनः समनस्काः ।

संज्ञीजीव मन वाले हैं ।

उहापोह सहित गुण-दोष का विचारात्मक संप्रधारण संज्ञा वाले जीवों को संज्ञी जानना ।

(२६) विग्रहगतौ कर्मयोगः ।

विग्रह गति में कार्मण काययोग ही होता है ।

(२७) अनुश्रेणि गतिः ।

जीव पुद्गलों की गति आकाश प्रदेश की श्रेणी के माफिक होती है यानी विश्रेणी के माफिक गति नहीं होती है ।

(२८) अविग्रहा जीवस्य ।

जीव की (सिद्धि में जाते) अविग्रह गति (ऋजु गति) होती है ।

(२९) विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।

संसारी जीवों की चार समय के पहले की यानी तीन समय की विग्रह वाली गति भी होती है । यानी अविग्रह (ऋजु) और विग्रह (वक्र) ऐसी दो गति होती है ।

संसारिक जीवों को जात्यन्तर संक्रान्ति (एक स्थल से दूसरे स्थल में उत्पन्न होने) में उपपात (जहां उत्पन्न हो) क्षेत्र की बक्रता के सबब से विग्रह गति होती है, ऋजुगति, एक समय की विग्रह, दो समय की विग्रह और तीन समय की विग्रह ये चार तरह की गति होती है।

प्रतिघात के और विग्रह के निमित्त का अभाव होने से इसके बनिस्बत ज्यादा समय की विग्रह गति नहीं होती।

पुद्गलों की गति भी इसी तरह जाननी।

विग्रह गति कब होती है वह कहते हैं—

(३०) एकसमयोविग्रहः।

विग्रह गति एकसमय बाद होती है।

(३१) एकं द्वौ वाऽनाहारकः।

दो और तीन विग्रह वाली गती में क्रम से एक समय या दो समय अणाहारी होता है (वा कहने से चार विग्रह में तीन समय भी होते हैं।)

(३२) सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म।

सम्मूर्च्छन, गर्भ, और उपपात ये तीन तरह के जन्म होते हैं।

(३३) सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्रा श्चैकशस्तद्योनयः।

तीन प्रकार के जन्म वाले जीवों की १ सचित्त, २ शीत और ३ संवृत, (ढ़की हुई–गुप्त) तीन प्रकार की इसी तरह इनकी तीन प्रतिपक्षी (अचित्त, उष्ण और विवृत– प्रगट) और मिश्र यानी सचित्त अचित्त, शीतोष्ण, संवृत विवृत, भेद वाली योनियें होती है, यानी इसी तरह नो तरह की योनियें है।

(३४) जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ।

जरायुज (ओर वाला), अंडज (ईंडे में से होने वाला) और पोतज (कपड़े) की तरह साफ उत्पन्न होने वाला)

इन तीन का गर्भ नामक जन्म होता है–१ मनुष्य, गाय, वगेरा जरायुज । २ सर्प, चंदन गोयरा, काचबा, पक्षी वगेरा अंडज और ३ हाथी, ससला (खरगोश) नोलिया वगेरा पोतज ।

(३५) नारकदेवानामुपपातः ।

नारकी और देवताओं को उपपात जन्म है १ नारक की उत्पत्ति कुम्भी और गोखडे में जाननी; २ देव की उत्पत्ति देवशय्या में जाननी ।

(३६) शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।

बाकी जीवों का जन्म समूर्च्छन है । माता पिता के संयोग बगेर मिट्टी, पानी, मलीन पदार्थों वगैरा में स्वयमेव (आप से आप) उपजे वह संमूर्च्छन ।

(३७) औदारिक-वैक्रिया-हारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण. ये पांच प्रकार के शरीर है ।

(३८) तेषां परं परं सूक्ष्मम् ।

उन शरीरों में एक एक से आगे आगे का सूक्ष्म है ।

(३९) प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।

तैजस शरीर के पहले के तीन शरीर प्रदेश में एक एक से असंख्यात गुण है ।

(४०) अनन्तगुणे परे

तैजस और कार्मण पहले पहले से अनन्त अनंत गुणे हैं यानि औदारिक से वैक्रिय के प्रदेश असंख्यात गुणे, वेक्रिय से आहारक के प्रदेश असंख्यात गुणे है और आहारक से तैजस के प्रदेश अनंत गुणे और तैजस से कार्मग के प्रदेश अनंत गुणों हैं।

(४१) अप्रतिघाते।

ये दो प्रतिघात (बाधा) रहित हैं यानी लोकान्ततक जानें आनें में कोई पदार्थ उनको नहीं रोक सकता है।

(४२) अनादिसम्बन्धे च।

फिर ये दोनों शरीर जीव के साथ अनादि काल से सम्बन्ध वाले हैं। एक आचार्य कहते हैं कि कार्मण शरीर ही अनादि संबंध वाला है।

तैजस शरीर तो लब्धि की अपेक्षा से है, वह लब्धि सबको नहीं होती। क्रोध से श्राप देने को और प्रसाद से आर्शीवाद देने को सूर्य चन्द्र के प्रभा के माफिक तैजस शरीर है।

(४३) सर्वस्य।

ये दोनों शरीर सब संसारी जीवों के होते हैं।

(४४) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः।

इन दोनों शरीरों को शुरु में लेकर चार तक के शरीर एक साथ एक जीव को हो सकते हैं।

यानि किसी को तैजस, कार्मण किसी को तैजस, कार्मण और औदारिक; किसी को तैजस, कार्मण, वैक्रिय, किसी को तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय, किसी को तैजस, कार्मण, औदारिक, आहारक, होते हैं। एक साथ पांच नहीं होते क्योंकि आहारक और वैक्रिय, एक साथ नहीं होते।

(४५) निरुपभोगमन्त्यम् ।

अन्त का जो (कार्मण) शरीर है वो उपभोग रहित है।

इससे सुख, दुःख नहीं भुगता जाता; विशेष करके कर्म बन्ध और निर्जरा भी उस शरीर से नहीं होती बाकी के उपभोग सहित हैं

(४६) गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।

पहला (औदारिक) शरीर गर्भ और समूर्च्छन से होता है।

(४७) वैक्रियमौपपातिकम् ।

वैक्रिय शरीर उपपात जन्म वाला (देव, नारकी) को होता है।

(४८) लब्धिप्रत्ययं च ।

तिर्यंच और मनुष्य को लब्धि प्रत्ययिक भी वैक्रिय शरीर होता है

(४९) शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।

शुभ, विशुद्ध, अव्याघाति, (व्याघात रहित) और लब्धि प्रत्ययिक ऐसा आहारक शरीर है और वह चौद पूर्वधर को ही होता है। शुभ (अच्छे) पुद्गल द्रव्य से निष्पन्न और शुभ परिणाम वाला जिससे शुभ कहा। विशुद्ध (निर्मल) द्रव्य से निष्पन्न और निर्वद्य जिससे शुद्ध कहा। किसी अर्थ में अत्यन्त सूक्ष्म सदेह हुवा हो ऐसे पूर्वधर अर्थ का निश्चय करने के लिये महाविदेहादि दूसरे क्षेत्र में विराजमान भगवन्त के पास औदारिक शरीर से नहीं जा सकने से आहारक शरीर करके जावे; जाकर भगवन्त के दर्शन कर संदेह दूर कर पीछे आकर उसका त्याग करे अन्तर्मुहूर्त तक यह शरीर रहता है। स्थूल और पुद्गलों से बना हुवा, उत्पन्न हुवे बाद फौरन ही समय समय बढ़े, घटे, परिणमे

(बदले) ऐसा ग्रहण, छेदन, भेदन, और दहन हो सके ऐसा औदारिक शरीर है। छोटे का बड़ा, बड़े का छोटा, एक का अनेक, अनेक का एक, दृश्य का अदृश्य, अदृश्य का दृश्य, भूचर का खेचर, खेचर का भूचर, प्रतिघाति का अप्रतिघाती, अप्रतिघाति का प्रतिघाति वगेरा रूप से वेक्रिय करे वह वैक्रिय शरीर। थोड़े वक्त के लिये जो ग्रहण किया जा सके वह आहारक। तेज का विकार तेज वाला, तेज पूण और श्राप के अनुग्रह का प्रयोजन वाला वह तैजस. कर्म का विकार, कर्म स्वरूप, कर्मवाला और खुद के तथा दूसरे शरीर का आदि कारणभूत (शुरू करने के कारण वाला) वह कार्मण कारण, विषय, स्वामी प्रयोजन, प्रमाण, प्रदेश संख्या, अवगाहना, स्थिति अल्पबहुत्व के लिहाज से उपर लिखे पांच शरीरों में भिन्नता (फरक) है।

(५०) नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।

नारकी और संमूर्च्छन जीव नपुंसक वेद वाला ही होता है। अशुभ गति होने से यहाँ ये एक ही वेद होता है।

(५१) न देवाः।

देवता नपुंसक नहीं होते। यानी स्त्री (वेद) और पुरुष (वेद) दोनों होते हैं बाकी के (मनुष्य और तिर्यंच) तीन वेद वाले होते हैं।

(५२) औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपात जन्म वाले-देव और नारक, चरम शरीर (उसी भव मोक्ष जाने वाले), उत्तम पुरुष (तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि शलाका पुरुष), असंख्यात वर्ष के आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच (युगलिक), ये सब अनपवर्तन (उपक्रम से घटे नहीं ऐसे आयुष्य वाले होते हैं।

देवता और नारकी उपपात जन्म वाले है, असंख्यात वर्ष के आयुष्य व ले मनुष्य और तिर्यंच देवकुरु, उत्तरकुरु, अन्तरद्वीप वगेरा अकर्म भूमी में और कर्म भूमी में अवसर्पिणी के प ले तीन आरों में और उत्सर्पिणी के आखरी तीन आरों में (पैदा होते) हैं। असंख्यात वर्ष के आयुष्य वाले तिर्यंच अढ़ी द्वीप में और बाहर के द्वीप समुद्र में उपजते हैं, उपपात जन्म और असंख्याता वर्ष के आयुष्य वाले निरुपक्रमी हैं। इन चरम देह वालों को उपक्रम लगता हैं लेकिन उनका आयुष्य घटता नहीं. बाकी के यानी— औपपातिक, असंख्य वर्ष वाले, उत्तम पुरुष, और चरम देह वाले सिवाय के तिर्यंच और मनुष्य सोपक्रमी और निरुपक्रमी हैं।

जो अपवर्तन आयुष्य वाले है उनका आयुष्य विष, शस्त्र, अग्नि, कंटक, जल, शूली, वगेरा से घटता है। अपवर्तन होता है यानी थोड़े काल में यहाँ तक की अन्तर मुहूर्त काल में कर्मफल का अनुभव होता है। उपक्रम सो अपवर्तन का निमित्त कारण है।

जिस तरह जुदे जुदे घास के तरणे एक एक करके जलाने में ज्यादा वक्त लगता है इकट्ठे कर जलाने से फोरन जल जाते हैं या भींजा हुआ कपड़ा इकट्ठा रखने से बहुत देर से सूखता हैं और चौड़ा करे तो फोरन सूख जावे उसी तरह बहोत वक्त में आयुष्य भोगने का था वह क्षण वार में भोगकर पूरा करते हैं लेकिन भोगने का बाकी नहीं रहता।

अनपवर्तनीय	अपवर्तनीय
१ सोपक्रमी- २ निरुपक्रमी—	सोपक्रमी—

इति द्वितीयोऽध्यायः।

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

[१] रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः प्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ।

१ रत्नप्रभा, २ शर्करा प्रभा, ३ वालुका प्रभा, ४ पंक प्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमः प्रभा और ७ महातमः प्रभा, ये सात (नरक) पृथ्वी ये नीचे नीचे घनोदधि (थीज्ये घी जैसा पाणी), घनवात (थीज्ये घी जैसी वायु), तनुवात (तपाये हुवे घी जैसी वायु), और आकाश पर प्रतिष्ठित (ठहरे हुवे) हैं; ये सात एक एक के नीचे सिल सिले वार ज्यादा फैलाव वाली है ।

धर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती, ये सात नाम नरक पृथ्वी के हैं ।

पहली की जाडाई एक लाख अस्सी हजार, दूसरी को एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अठाईस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवी की एक लाख अठारा हजार, छट्ठी की एक लाख सोला हजार, और साँतवी की एक लाख आठ हजार योजन की जाडाई है ।

[२] तासु नरकाः ।

उन सात पृथ्वीयों में नरक है ।

रत्न प्रभा वगेरा पृथ्वीयों में एक हजार योजन ऊँचे और एक हजार योजन नीचे छोड़कर बाकी के हिस्से में नरकावास हैं ।

वहाँ छेदन, भेदन, आक्रंदन घातन वगेरा कई दुःख नारकी जीवों को भोगने पड़ते हैं, उन रत्नप्रभा वगेरा में सिल सिले वार १३-११-९-७-५-३ और १ इस तरह सब मिलकर ४९ प्रतर है,

और तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच इस तरह सब मिलकर ८४ लाख नरकावास हैं। ऊपर के पहले प्रतर का नाम सीमन्तक है, और आखरी का नाम अप्रतिष्ठान हैं।

[३] नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ।

इन सात पृथ्वीयों में नीचे नीचे ज्यादा ज्यादा अशुभतर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिय (वैक्रिय पण) निरन्तर (हर वक्त) होता है। यानी एक क्षणभर भी शुभ लेश्या वगेरा नहीं होती.

पहली दो नारकी में कापोत, तीसरे में कापोत तथा नील, चौथी मै नील, पाँचवी में नील तथा कृष्ण, और छट्ठी सातवी में कृष्ण लेश्या होती है. ये लेश्यायें सिल सिले वार नीचे की नारकी में ज्यादा ज्यादा संक्लिष्ट अध्यवसाय वाली होती है बंधन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श अगुरुलघु और शब्द ये इन दस प्रकार के अशुभ पुद्गलों का सिल सिले वार ज्यादा अशुभतर परिणाम नरक पृथ्वी में होता है। चारों तरफ हमेंशा अन्धेरे वाली और श्लेष्म मूत्र, विष्टा, लोही, पुरु (पीप-राध) वगेरा अशुचि पदार्थों से लेप की हुई वो नरक भूमियें हैं।

पंख उखड़े हुवे पक्षी की तरह क्रूर गुस्से वाले, करुण, बीभत्स और दिखने में भयंकर आकृति वाले, दुःखी और अपवित्र शरीर नारकी के जीवों के होते हैं, पहली नारकी में नारक जीवों का शरीर ७॥। मनुष्य और छ आंगुल का है। उसके बाद वालों का सिल-सिले वार दूणा दूणा जानना।

प्रथम तीन नारकी में उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण और शीत, पांचवी में शीत और उष्ण और छट्ठी सातवीं में शीत वेदना जाननी

एक एक से अधिकतर वेदना समझनी।

उनाले की प्रचंड धूप पड़ती हो उस वक्त दुपहर में चारों तरफ मोटी धग धगाती अग्नी की धूणी कर बीच में पित्त की व्याधी-(बिमारी) वाले मनुष्य को बिठलाया हो उसको अग्नी का जेसा दुःख लगे उससे नारक को अनन्त गुण दुःख उष्ण वेदना का होता है। पौष, माघ मास की ठंडी रात को झाकल पड़ता हो और ठडी हवा चलती हो उस वक्त अग्नि और वस्त्र की सहाय (मदद) न हो ऐसे मनुष्य को जैसा ठंड का दुःख हो उससे नारकों को अनन्त गुणा दुःख शीत वेदना का होता है।

उन उष्ण वेदना वाले नारकों को वहाँ से लाकर यहाँ अत्यन्त बड़े अग्नि के कुंड में डाला हो तो वे ठंडी छाया में सोते हो उस तरह आनन्द से निद्रा ले। और शीत वेदना वाले नारक को वहाँ से लाकर यहाँ माघ मास की रात्री में झाकल में रक्खे तो वह अत्यन्त आनन्द से निद्रा ले। इस नारकी जीवों को भारी दुःख है। उनको विक्रिया (वैक्रिय शरीर आदि बनाना) भी अशुभतर हैं। अच्छा करूँगा ऐसी इच्छा करते हुये अशुभ विक्रिया होती है दुःख ग्रस्त मनवाले दुःख का प्रतिकार (मिटाने का उपाय) करना चाहते है तो लेकिन उल्टा महान दुःख उत्पन्न होता है।

[४] परस्परोदीरितदुःखाः।

इन नरकों में जीवों को आपस में उदीरणा किया हुआ दुःख है। यानी ये जीव अन्यो अन्य एक दूसरे को दुःख देते हैं। उनकी अवधि ज्ञान या विभंग ज्ञान होने से वे दूसरे ही सब दिशाओं से आते हुवे दुःख के हेतुओं को देखते हैं।

बहुत दुश्मनी वाले जीवों की तरह वे आपस में लड़ते हैं और दुःखी होते हैं।

[५] संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।

अत्यन्त क्लिष्ट परिणाम वाले असुरों (परमाधामी) के उत्पन्न किये हुवे दुःख चौथी नारकी पहले यानी तीसरी नारकी तक होते हैं। नारक जीवों को वेदना करने वाले पन्द्रह जात के परमाधामी देव भव्य होने पर भी मिथ्या दृष्टि होते हैं।

पूर्व जन्म में संक्लिष्ट कर्म के योग से आसुरी गति को पाये हुवे होने से उनका इस प्रकार आचार होने से नारकीयों को कई तरह के दुःख उत्पन्न करते हैं।

[६] तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।

उन नरकों में जीवों की उत्कृष्टी स्थिति सिलसिले वार एक, तीन, सात, दश, सतरा, बाईस और तेतीस सागरोपम की होती है। यानी पहली नरक के जीवों का उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा) आयुष्य एक सागरोपम का होता है।

दूसरी का तीन सागरोपम, तीसरी का सात सागरोपम, चौथी का दश सागरोपम, पाँचवीं का सतरा सागरोपम, छट्ठी का बाईस सागरोपम, और सातवीं का तेतीस सागरोपम का आयुष्य जानना।

असंज्ञी पहली नारकी में उपजे; भुजपरिसर्प पहली दो नारकी में, पक्षी तीन में, सिंह चार में, उरःपरिसर्प पाँच में, स्त्रियाँ छ में, और मनुष्य सात नारकी में उत्पन्न होते हैं; नारकी में से निकले हुवे जीव तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। पहली तीन नरकों से निकले हुवे कितनेक जीव मनुष्यपणा पाकर तीर्थंकर पणा भी पाते हैं, चार नरक भूमी से निकले हुवे मोक्ष पाते हैं. पाँच से निकला हुवा चारित्र पाता हैं, छ से निकला हुवा देशविरति चारित्र पाता हैं और सात नारकी से निकला हुवा सम्यक्त्व पा सकता है।

[७] जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।

जम्बूद्वीप वगेरा शुभ नाम वाले द्वीप और लवण आदि शुभ नाम वाले समुद्र हैं ।

[८] द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।

वे द्वीप समुद्र सिलसिलेवार दूणे दूणे विष्कंभ (विस्तार) वाले और पहले पहले द्वीप–समुद्रों को घेरे हुवे वळयाकार (चूडी जैसे गोळ) हैं

[९] तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।

उन द्वीप समुद्रों के बीच में मेरु पर्वत जिसकी नाभि है ऐसा गोलाकार एक लाख योजन के विस्तार वाला जम्बूद्वीप है ।

मेरु पर्वत एक हजार योजन भूमि में फैला हुवा, ९९ हजार योजन ऊँचा, मूल में दश हजार योजन विस्तार वाला और ऊपर एक हजार योजन विस्तार वाला है। उसकी एक हजार योजन ऊँचाई का पहला कांड शुद्ध पृथ्वी, पत्थर, वज्ररत्न, और शर्करा से प्रायः (करीब करीब) भरा हुवा है । ६३ हजार योजन ऊँचा दूसरा कांड, रुपे, सोने, अंक रत्न और स्फटिक रत्न से प्रायः पूर्ण है, ३६ हजार योजन ऊँचा तीसरा कांड प्रायः जांबूनद (लाल सुवर्ण) मय है और मेरु की चूलिका चालीस योजन ऊँची प्रायः वैडूर्य (नील) रत्नमय है । वह मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन, और ऊपर चार योजन फ़ैलाव की है ।

मेरु के मूल में वलयाकार (चूडी के जैसा) भद्रशाल वन है। भद्रशाल वन से पाँच सो योजन चढ़े वहाँ ५०० योजन का वलयाकार विस्तार वाला नन्दन वन है। वहाँ से ६२॥ हजार योजन चढ़े

वहाँ पाँच सो योजन का वलयाकार विस्तार वाला सोमनस वन है। वहां से ३६ हजार योजन ऊँचा यानी मेरु की चोटी पर ४६४ योजन का वलयाकार विस्तार वाला पांडक वन है। नन्दन और सोमनस वन से ऊँचा ११ हजार योजन के बाद फेलाव की प्रदेश हानी समझनी यानी नंदन और सोमनस वन से ११-११ हजार योजन तक मेरु का विस्तार एकसा है।

मेरु का पहला कांड १ हजार योजन ऊँचा (ऊंडा) पृथ्वी में है वहाँ १००९० $\frac{१०}{११}$ विष्कम्भ (फेलाव) है, वहाँ से घटता भद्रशाल वन के पास मेरु का विष्कम्भ १० हजार योजन का है।

उसमें एक योजन में $\frac{१}{११}$ योजन की कमी होने से ९९ हजार योजन में ९ हजार योजन घटे इससे १ हजार योजन मथाले (चोटी पर) विस्तार रहा। वहाँ बीच में १२ योजन के विस्तार वाली चूलिका बीच के हिस्से में होने से उसको चारो तरफ ४९४ योजन के गोल फैलाव वाला पांडक वन है।

नंदन और सोमनस वन ऊपर ११-११ हजार योजन तक प्रदेश की हानि नहीं होती, इसका सबब नंदन और सोमनस वन मेरु पर्वत की चारों दिशा में फिरते हुवे वलयाकार से ५०० योजन के विस्तार वाली मेखला के ऊपर रहे हुवे हैं।

उसकी दोनों बाजू के पाँच सो पांच सो मिलकर १ हजार योजन की हानी एक साथ हुई; वहाँ से ११ हजार योजन तक मेरु एकसा फेलाव में है।

मतलब यह है कि ११ हजार योजन में एक हजार योजन की हानी प्रदेश से होने की थी, वह एक साथ हुई।

इससे सामान्य हिसाब से भी हिसाब बराबर मिल जाता है।

समभूतला पृथ्वी की जगह मेरु का १० हजार योजन का फेलाव है।

नंदन वन का बाहिर का फैलाव ९९५४ ६/११ योजन है, भीतर का फेलाव ८९५४ ६/११ योजन है, और वहाँ से ११ हजार योजन तक मेरु का विष्कम्भ भी उतना ही है।

उसमें से सौमनस वन तक ५१॥ हजार योजन रहे, उनकी ४६८१ ९/११ योजन कमी करने से ४२७२ ८/११ योजन सोमनस वन का बाहिर का विष्कम्भ रहा, और दोनों बाजू के पाँच सो पाँच सो योजन मिलकर १ हजार योजन वन का विष्कम्भ कम करने से भीतर का विष्कम्भ सौमनस वन का ३२७२ ८/११ योजन रहा, इस तरह सब जगह समझना।

(१०) तत्र भरतहैमवतहरिवर्षविदेहरम्यक् हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।

उस जम्बूद्वीप में १ भरत, २ हैमवत, ३ हरिवर्ष, ४ महाविदेह, ५ रम्यक्, ६ हैरण्यवत, ७ ऐरावत. ये सात वास क्षेत्र हैं।

व्यवहार नय की अपेक्षा से सूर्य की गति के माफिक दिशा के नियम से मेरु पर्वत सब क्षेत्र की उत्तर दिशा में हैं।

लोक के बीच में रहे हुवे आठ रुचक प्रदेश को दिशा का हेतु मानने से यथासंभव दिशा गिनी जाती है।

(११) तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः।

उन क्षेत्रों को विभाग करने वाले पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे एक हिमवान, २ महाहिमवान, ३ निषध, ४ नीलवन्त, ५ रुक्मि और ६ शिखरी छ वर्षधर (क्षेत्र की हद बांधने वाले) पर्वत हैं।

भरतखंड का फैलाव ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है. उससे दूणे दूणे विस्तार वाले पर्वत और क्षेत्र सिल सिलेवार महाविदेह तक जानने और महाविदेह के उत्तर में सिलसिलेवार आधे आधे विस्तार वाले जानने। भरत, हिमवान्, हैमवत, महाहिमवान्, हरिवर्ष, निषध, महाविदेह, नीलवान्, रम्यक्, रुक्मि, हैरण्यवत शिखरी, ऐरावत, इस तरह सिल सिले वार लेना।

भरत क्षेत्र की जीवा १४४७१$\frac{६}{१९}$ योजन जाननी। इषु विष्कम्भ तुल्य ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन और धनु:पृष्ठ १४५२८$\frac{११}{१९}$ योजन है।

भरत क्षेत्र के बीच में पूर्व पश्चिम दिशा में समुद्र तक लम्बा वैताढ्य पर्वत है, वह २५ योजन ऊँचा है और ६। योजन जमीन में अवगाढ़ (फैला हुवा) है। मूल में ५० योजन विस्तार वाला है। हर पर्वत की ऊँचाई का चौथा भाग जमीन में फैला हुवा है।

महाविदेह क्षेत्र में निषध पर्वत की उत्तर तरफ और मेरु के दक्षिण में सो कांचनगिरी और चित्रकूट और विचित्र कूट से शोभित देव कुरु नाम की भोग भूमी (अकर्म भूमी) है. उसका ११८४२$\frac{२}{१९}$ योजन का विष्कम्भ हैं इस तरह मेरु के उत्तर में और नीलवान् के दक्षिण में उत्तर कुरु नाम की भोग भूमी है, इतना सिवाय की उनमें चित्रकूट और विचित्रकूट के बदले दो यमक पर्वत हैं, दक्षिण और उत्तर के वैताढ्य लम्बाई, विष्कम्भ, अवगाह और ऊँचाई में बराबर हैं। इस तरह हिमवत और शिखरी, महाहिमवत् और रुक्मि, निषध और नीलवान्-भी समान है.

धातकी खंड और पुष्करार्ध के चार छोटे मेरु पर्वत मोटे मेरु पर्वत से ऊचाई १५ हजार योजन कम हैं यानी ८५ हजार ऊंचे है. पृथ्वीतल में छ सो योजन कम यानी ९४०० योजन विस्तार वाले हैं, उनका पहला कांड महामेरु के माफिक १०००

योजन का हैं, दूसरा कांड सात हजार कम यानी ५६००० योजन का है और तीसरा कांड आठ हजार कम यानी २८००० योजन ऊचा हैं. भद्रशाल और नंदन वन महामंदर (मेरु) के माफिक है.

वहाँ से ५५॥ हजार दूर सोमनसवन पाँचसो योजन का विस्तार वाला है. वहाँ से २८ हजार योजन दूर ४६४ योजन के विस्तार वाला पाँडक वन है, ऊपर का विष्कम्भ तथा अवगाह महामंदर के माफिक है, चूलिका भी महामंदर की चूलिका जैसी है.

विष्कम्भ कृतिको दस गुणा करने से उस का जो मूल (वर्ग मूल) आवे वह वृत्तपरिक्षेप (परिधि–घेरा) होता है.

उस वृत्तपरिक्षेप (परिधि) को विष्कम्भ के चौथे भाग से गुणा करने से गणित (गणित–पद क्षेत्रफल) होता है। विष्कम्भ की इच्छित अवगाह (जिस क्षेत्र की जहां 'जीवा' निकालना हो उस क्षेत्र के अन्त तक की मूल से लगा कर अवगाह यानी जम्बूद्वीप की दक्षिण जगती से क्षेत्र के उत्तर अन्त तक की अवगाह) और ऊनावगाह (जम्बूद्वीप के तमाम विष्कम्भ में से इच्छित अवगाह बाकी निकाली हुई वह) के गुणाकार को चार से गुणा कर उसका मूल्य निकालने से जहां आवे वह ज्या-जीवा धनुः प्रत्यंचा ये पर्याय नाम है।

जीवा और जम्बूद्वीप के विष्कम्भ के वर्गों का विश्लेष (मोटी रकम में से छोटी बाद करनी वह) करने पर उसका मूल आवे वह विष्कम्भ में से बाद करने से जो बाकी रहे उसका आधा करना वह इषु (बाण का माप) जानना.

इषु (अवगाहना) के वर्ग को छ गुणा कर उसमें जीवा का वर्ग जोडने पर उसका जो मूल आवे, वह धनुःपृष्ठ (धनुःकाष्ठ) जीवा के वर्ग के चौथे भाग से मिला हुवा जो इषु का वर्ग, उसको इषुसे

भाग देने से वाटला क्षेत्र का विष्कम्भ आता है। उत्तर क्षेत्र के धनुः-काष्ठ में से दक्षिण क्षेत्र के धनुःकाष्ठ को बाद करने से जो बाकी रहे, उसका आधा करने से जो आवे वह बाहु (बाहा) जानना.

इस करण रूप उपाय से सब क्षेत्र और पर्वतों की लंबाई, पहोलाई ज्या, इषु, धनुःकाष्ठ वगेरा के प्रमाण जाण लेने.

(१२) द्विर्धातकी-खण्डे ।

वे क्षेत्र तथा पर्वत धातकी खण्ड में दूणे हैं.

जितने मेरु, क्षेत्र और पर्वत जम्बूद्वीप में हैं उनसे दूणे धातकीखण्ड में उत्तर-दक्षिण लम्बे दो इषुकार पर्वतों से बटे हुवे हैं यानी पूर्व-पश्चिम के दोनों भाग में जम्बूद्वीप की तरह क्षेत्र पर्वत के हिस्से है.

पर्वत पैंड़े के आरे माफिक और क्षेत्र आरे के विवर माफिक आकार वाले हैं यानी पर्वत की पोहलाई सब जगह एकसा है और क्षेत्र की पोहलाई सिलसिले वार बढ़ती हुई है.

(१३) पुष्करार्धे च ।

पुष्करार्ध द्वीप में भी क्षेत्र पर्वत, धातकीखण्ड के जितने हैं. धातकीखण्ड में मेरु, इषुकार पर्वत, क्षेत्र और वर्षधर पर्वत जितने और जिस रीती के हैं उतने और वैसे आकार के यहाँ भी जानना.

पुष्करार्ध द्वीप के अन्त में उत्तम किल्ले जैसा सुवर्णमय मानुषोत्तर पर्वत, मनुष्य लोक को घेरे हुवे गोल है वह १७२१ योजन ऊँचा है. चार सो तीस योजन और एक गाऊ जमीन में फेला हुवा है.

उसका विस्तार नीचे १०२२ योजन का, बीच में ७२३ योजन का और ऊपर ४२४ योजन का है सिंह निषद्याकार यानी सिंह बैठा हुवा हो ऐसे आकार का यह पर्वत है. इस किल्ले जैसे पर्वत में आए हुवे अढी द्वीप मनुष्य क्षेत्र कहा जाता हैं. क्योंकि मनुष्यों का जन्म-मरण वहीं होता है, दूसरी जगह नहीं होता है.

(१४) प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।

मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व में (५६ अन्तर द्वीप और पेंतीस वास क्षेत्र में) देवकुरु और उत्तरकुरु की गिनती महाविदेह क्षेत्र में शामिल होने से ३५ क्षेत्र होते हैं) मनुष्य उत्पन्न होते हैं.

(१५) आर्या म्लिशश्च ।

आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य होते हैं.

भरतादि क्षेत्र में साढे पच्चीस देशों में आर्य उत्पन्न होते है और म्लेच्छ दूसरे देशों में उत्पन्न होते हैं.

(१६) भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड कर भरत ऐरावत और महा-विदेह ये कर्मभूमीयें हैं. सात क्षेत्र पहले गिने जिससे महाविदेह मे देवकुरु उत्तरकुरु का समावेश होता है इसलिये यहाँ उन दोनों को अलग किये हैं.

(१७) नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।

मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है.

(१८) तिर्यग्योनीनां च ।

तिर्यग् योनी से उत्पन्न होते हैं उन (तिर्यंचों) की भी उत्कृष्ट स्थिती तीन पल्योपम की और जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की है.

पृथ्वीकाय की २२ हजार वर्ष की, अप्काय की सात हजार वर्ष की. तेऊकाय की तीन दिन की, वाऊकाय की तीन हजार वर्ष की और प्रत्येक वनस्पतिकाय की दश हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिती जाननी. बेइन्द्रिय की बारा वर्ष, तेइन्द्रिय की ४६ दिन और चौरिन्द्रिय को छ मास उत्कृष्ट स्थिति है गर्भज मत्स्य, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प की पूर्वकोडी वर्ष की, गर्भज पक्षीयों को पल्योपम का असंख्यातमां भाग और गर्भज चतुष्पद की तीन पल्योपम उत्कृष्ट स्थिती है.

समूर्च्छिम मत्स्य की पूर्वकोडी; समूर्च्छिम उरपरिसर्प भुजपरिसर्प, पक्षी और चतुष्पद की उत्कृष्ट स्थिति ५३०००, ४२०००, ७२०००, ८४०००, वर्ष की सिलसिले वार जाननी.

सब की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है.

❀ इति तृतीयोऽध्यायः ❀

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

(१) देवाश्चतुर्निकायाः ।

देवता चार निकाय वाले हैं याने चार प्रकार या जाति के हैं।

(२) तृतीयः पीतलेश्यः ।

तीसरी निकाय (ज्योतिष्क) के देवता तेजोलेश्या वाले होते हैं।

(३) दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

वे सिलसिलेवार कल्पोपपन्न (स्वामी-सेवकादिमर्यादा वाले इन्द्र-सामानिकादि भेद वाले) तक दस, आठ, पांच और बारा भेद वाले हैं.

यानी भवनपति के (असुरादि) दस भेद, व्यंतर के आठ (किन्नरादि) भेद, ज्योतिष्क (सूर्य-चन्द्रादि) पांच भेद और और वैमानिक के (सौधर्मादि) बारा भेद है.

(४) इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ।

पूर्वोक्त निकायों में हर एक के १ इन्द्र, २ सामानिक (अमात्य, पिता, गुरू, उपाध्याय वगेरा के माफिक इन्द्र समान ठकुराई वाले) ३ त्रायस्त्रिंश (गुरुस्थानीय-मंत्रि-पुरोहित जैसे) ४ पारिषद्य (सभा में बैठने वाले), ५ आत्म रक्षक (अंग रक्षक), ६ लोकपाल (कोट-वाल वगेरा पोलिस जैसे), ७ अनीक (सेना और सेनापति), ८ प्रकीर्णक (प्रजा-पुरजन माफिक), ९ आभियोग्य (चाकर), १० किल्बिषिक (नीच जो चांडाल माफिक) ये दस दस भेद होते हैं

(५) त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ।

व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय वाले के त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं हैं:— (उन जातियों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते.)

(६) पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।

पहले की दो निकायों में यानी भवनपति और व्यन्तर में दो दो इन्द्र हैं, तो इस माफिक-भवनपति में असुरकुमार के चमर और बली, नागकुमार के धरण और भूतानंद, विद्युतकुमार के हरि और हरिस्सह, सुवर्णकुमार के वेणुदेव और वेणुदाली, अग्निकुमार

के अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमार के वेलम्ब और प्रभंजन, स्तनितकुमार के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमार के जलकांत और जलप्रभ, द्वीपकुमार के पूर्ण और अवशिष्ट, दिक्-कुमार के अमित और अमितवाहन.

व्यन्तर में किन्नर के किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुष के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग के अतिकाय और महाकाय, गंधर्व के गीत-रति और गीतयश, यक्ष के पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षस के भीम और महाभीम, भूत के प्रतिरूप और अप्रतिरूप, पिशाच के काल और महाकाल, ज्योतिष्क के सूर्य और चन्द्र, वैमानिक में-कल्पोपपन्न में के देवलोक के नाम मार्फिक इन्द्र के नाम जानने और कल्पातीत में इन्द्रादि नहीं, सब स्वतंत्र हैं ।

(७) पीतान्तलेश्याः ।

पहले की दो निकायों में (भवनपति और व्यन्तर में) तेजो तक चार (कृष्ण, नील कापोत, तेजो) लेश्या होती है ।

(८) कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।

ईशान देवलोक तक के देव काय सेवी (शरीर से मैथुन क्रिया करने वाले) हैं ।

(९) शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ।

बाकी के दो दो कल्प के देव सिलसिलेवार स्पर्शसेवी (स्पर्श से विषय सेवन करने वाले), रूपसेवी, शब्दसेवी और (नवमें दसमें के मिलकर एक, और ११ में १२ वें के मिलकर एक इन्द्र होने से उन चार की दो में गिनती की है, आगे ऊपर दो दो को द्विवचन से इकट्ठे लीये. देखो सूत्र २०) मनः सेवी है ।

(१०) परेऽप्रवीचाराः ।

बाकी के (ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के) देव अप्रवीचारे (विषयसेवन रहित) होते हैं।

अल्प संक्लेश वाले होने से वे स्वस्थ और शांत होते हैं। पांचों प्रकार के विषयसेवन किये बिना भी बेहद आनन्द उनको होता है।

(११) भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः ।

भवनवासी देवों के १. असुरकुमार, २ नागकुमार, ३. विद्युत-कुमार, ४. सुवर्णकुमार, ५. अग्निकुमार, ६. वायुकुमार, ७. स्तनित-कुमार, ८. उदधिकुमार, ९. द्वीपकुमार, १० दिक्कुमार । ये दस भेद हैं।

कुमार की तरह सुन्दर दिखाव वाले मृदु मधुर और ललित गति वाले, शृंगार सहित सुन्दर वैक्रियरूप वाले, कुमारों की तरह उद्धत वेष भाषा शस्त्र तथा आभूषण वगैरा वाले, कुमार की तरह उत्कट राग वाले और क्रीडा में तत्पर होने से वे कुमार कहलाते हैं।

असुर कुमार का वर्ण काला और उनके मुकुट में चूडामणी का चिह्न (निशान) है, नाग कुमार का वर्ण काला और ऊनके मस्तक में सर्प का चिह्न है, विद्युत् कुमार का सफेद वर्ण और वज्र का चिह्न है, सुवर्ण कुमार का वर्ण श्याम और गरुड का चिह्न है, अग्नि कुमार का वर्ण शुक्ल और घट का चिह्न है। वायुकुमार का शुद्ध वर्ण और अश्व का चिह्न है, स्तनित कुमार का कृष्ण वर्ण और वर्धमान (शराव संपुट) का चिह्न है। उदधि कुमार का वर्ण श्याम और मकर का चिह्न है। द्वीप कुमार का वर्ण श्याम और सिंह का चिह्न है और दिक्

कुमार का श्याम वर्ण और हाथी का चिह्न है, सब तरह तरह के आभूषण और हथियार वाले होते हैं।

(१२) व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस-भूतपिशाचाः।

१. किन्नर, २. किम्पुरुष, ३. महोरग, ४. गंधर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत और ८ पिशाच ये आठ तरह के व्यन्तर है।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग इन तीनों लोक में भवन-नगर और आवासों में वे रहते हैं। स्वतन्त्रता से या परतन्त्रता से अनियत गती से अक्सर वे चारों तरफ रखडते हैं. कोई तो मनुष्य की भी चाकर के माफिक सेवा करता है, अनेक तरह के पर्वत गुफा और वन वगेरा में रहते हैं इससे वे व्यन्तर कहलाते है।

किन्नर का नील वर्ण और अशोक वृक्ष का चिह्न है, किंपुरुष का श्वेत वर्ण और चम्पक वृक्ष का चिह्न है, महोरग का श्याम वर्ण और नाग वृक्ष का चिह्न है, गान्धर्व का रक्त वर्ण और तुंबरु वृक्ष का चिह्न है, यक्ष का श्याम वर्ण और वट वृक्ष का चिह्न है, राक्षस का श्वेत वर्ण और खटवांग का चिह्न है, भूत का वर्ण काला और सुलस वृक्ष का चिह्न है, और पिशाच का वर्ण श्याम और कदम्ब वृक्ष का चिह्न हैं. ये तमाम चिह्न ध्वजा में होते हैं।

(१३) ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च।

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा इन पाँच भेद के ज्योतिष्क देवता होते हैं.

सूत्र में समास नहीं किया चन्द्र से सूर्य को पहला लिया है इससे यह जाहिर होता है कि-सूर्यादिक के यथाक्रम से ज्योतिष्क देव ऊँचे रहे हुवे हैं. यानी—

समभूतला पृथ्वी से ८०० योजन पर सूर्य, वहां से ८० योजन चन्द्र वहाँ से २० योजन पर प्रकीर्णक तारे हैं, ग्रह और तारे अनियमित गति वाले होने से चन्द्र, सूर्य, के ऊपर और नीचे चलते हैं. उन ज्योतिष्क के मुकुटों में मस्तक और मुकुट को ढके ऐसे तेज के मंडल अपने अपने, आकार वाले होते हैं.

(१४) मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयो नृलोके ।

मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते बराबर गति करने वाले ज्योतिष्क-देव मनुष्यलोक में हैं.

मेरुपर्वत से अग्यारा सो इक्कीस योजन चारों तरफ दूर मेरु के प्रदक्षिणा करते हुवे ज्योतिष्क देव घूमते है। जम्बूद्वीप में दो सूर्य, लवणसमुद्र में चार, धातकीखंड में बारा, कालोदसमुद्र में बयांलीस और पुष्करार्धद्वीप में बहोत्तर, इस तरह सब मिलकर १३२ सूर्य मनुष्यलोक में हैं.

चन्द्र भी सूर्य की तरह है. एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र ८८ ग्रह, और ६६९७५ कोडाकोडी तारे हैं (यानी जहाँ जितने चन्द्र हो उनको उपरोक्त नक्षत्रादि की संख्या से गुणा करने से उस क्षेत्र की समस्त नक्षत्रादि की संख्या आती है.) सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र तिर्यग् लोक में हैं और प्रकीर्णक तारे (तारे सम-भूतला पृथ्वी से ९०० योजन ऊचे होने से उनके विमान तिर्यग् लोक की ऊपर ऊर्ध्व लोक में आते हैं) ऊर्ध्व लोक में हैं, सूर्यमंडल का विष्कम्भ $\frac{48}{61}$ योजन, चन्द्रमंडल की $\frac{56}{61}$ योजन, ग्रह का दो गाऊ, नक्षत्र का एक गाऊ और ताराओं का आधा गाऊ हैं, सबसे छोटे ताराओं का विष्कम्भ पांचसो धनुष्य है, विष्कम्भ से ऊंचाई आधी समझनी. ये सब सूर्यादिका मान कहा। वह मनुष्यलोक में रहे हुवे चर ज्योतिष्क का समझना. अढीद्वीप से बाहिर रहे हुवे-

स्थिर ज्योतिष्क का मान पूर्वोक्त विष्कम्भ तथा ऊँचाई का आधा भाग जानना. मनुष्यलोक में रहे हुवे ज्योतिष्क विमान लोकस्थिती से लगातार गति वाले हैं तो भी ऋद्धि विशेष के वास्ते और आभियोगिक नामकर्म के उदय से लगातार गति में आनन्द मानने वाले देवता उन विमानों को वहन करते हैं. वे देव पूर्व दिशा में सिंह के रूप वाले, दक्षिण में हाथी के रूप वाले, पश्चिम में बलद के रूप वाले और उत्तर में घोड़ा के रूप वाले होते हैं.

(१५) तत्कृतः कालविभागः

उनसे काल का विभाग किया हुवा है.

उन काल के विभागों में से परम सूक्ष्म क्रियावान्, सब से जघन्य गति में परिणत जो परमाणु है उस परमाणु के निज के अवगाहन क्षेत्र के व्यतिक्रम का जो काल है अर्थात् जितने काल में अपने क्षेत्र से दूसरे में पलटा खाके स्थित होता है या केवल पल्टा खाता है वह काल समय कहलाता है. और वह समय रूप काल सूक्ष्म होने से अत्यन्त दुर्गम्य है अर्थात् बुद्धिमानों से भी दुःख से जाना जाता है, और "यह ऐसा है" इस प्रकार निर्देश करने योग्य (दूसरे को दर्शाने योग्य) नहीं है । उस समय रूप काल को भगवान् परमर्षि केवली (केवलज्ञान सम्पन्न) जन ही जानते हैं, न कि उसको निर्देश करके अन्य को दर्शाते हैं; क्योंकि वह अति सूक्ष्म होने से परमनिरुद्ध है ।

परमनिरुद्ध उस समय रूप काल में भाषाद्रव्यों के वाणी का शब्दादि के ग्रहण तथा त्याग में करणों के (इन्द्रियों के) प्रयोग का असम्भव है । और वे असंख्येय समय मिलके एक आवलिका होती है । और वे संख्येय आवलिकायें मिलकर एक उच्छ्वास तथा निश्वास होता है । और वे उच्छ्वास तथा निश्वास मिलकर

बलवान् समर्थ इन्द्रिय, सहित नीरोग, युवा और स्वस्थ मनवाले पुरुष का एक प्राण है। सप्त प्राण मिल के एक स्तोक होता है। सप्त (सात) स्तोक का एक लव होता है। अड़तीस तथा अर्द्ध अर्थात् साढ़े अड़तीस लवकी एक नालिका होती है। दो नालिका का एक मुहूर्त होता है। और तीस मुहूर्त का एक रात्रि-दिन होता है। पन्द्रह (१५) रात्रिदिन का एक पक्ष होता है। और दो पक्ष शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष मिलकर एक मास होता है। दो मास का एक ऋतु होता है। तीन ऋतु का एक अयन होता है। और दो अयन का एक वर्ष होता है। और वे पाँच वर्ष चन्द्र-चन्द्रा भिवर्धित तथा चन्द्रा भिवधित नाम वाले मिलकर एक युग होता है। और उस पंच वर्ष रूप युग के मध्य और अन्त में अधिक-मास (दो अधिकमास होते हैं। सूर्य, सावन, चन्द्र, नक्षत्र तथा अभिवर्धित युगों के नाम हैं और चौरासी से गुणित शत सहस्र वर्ष, अर्थात् एक लक्ष को चौरासी से गुणा करने से चौरासी लक्ष हुए और वे चौरासी लक्ष वर्ष मिल के एक पूर्वाङ्ग होता है। शतसहस्र पूर्वाङ्ग अर्थात् एक लक्ष पूर्वाङ्ग चौरासी से गुणित होने से चौरासी लक्ष पूर्वाङ्ग का एक पूर्व होता है। वे पूर्व अयुत, कमल, नलिन, कुमुद, तुद्य, टटा, ववा, हाहा, हूहू इक चौरासी शतसहस्र (चौरासी लक्ष) से गुणित होने से एक संख्येय काल होता है। अब इसके आगे उपमा से नियत काल कहेंगे। जैसे—एक योजन चौडा तथा एक योजन ऊंचा वृत्ताकार एक पल्य (रोमगर्तगढ़ा) हो जो कि एक रात्रि से लेकर सप्तरात्रि पर्यन्त उत्पन्न मेषादि पशुओं के लोमों (रोमों) से गाढ़ रूप से अर्थात् ठासके पूर्ण किया जाय. तत् पश्चात् सौ सौ वर्ष के अनन्तर एक एक रोम उस गढ़ेमेंसे निकाला जाय. तो जितने काल में वह गढा सर्वथा रिक्त अर्थात् खाली हो जाय उसको एक पल्योपम कहते हैं। और वह पल्योपम दश कोटाकोटि से गुणा करने से एक सागरोपम काल होता है. और चार कोटाकोटी

सागरोपम की एक सुषमसुषमा होती है। तीन कोटाकोटी सागरोपम की सुषमा है। दो कोटाकोटी सागरोपम की सुषमदुःषमा होती है। बयालीस सहस्र वर्ष कम एक सागरोपम की एक दुःषमसुषमा. होती है। इक्कीस सहस्र वर्ष की दुःषमा होती है और उतने ही की दुःषमदुषमा भी होती है। और इन्हीं सुषमसुषमा आदि छहों कालों की अनुलोम प्रतिलोमभाव से अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी होती हैं। अर्थात् अनुलोम (जिस क्रमसे लिखा) वह तो अवसर्पिणी और इसके विपरीत क्रम से अर्थात् प्रथम दुःषमदुःषमा १ पुनः दुःषमा, २ दुःषमसुषमा ३ सुषमदुःषमा ४ सुषमा ५ और षष्ठ सुषमसुषमा यह उत्सर्पिणी है। ये अनादि और अनन्त अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी रात्रि-दिन के सदृश भरत तथा ऐरावत वर्षों में परिवर्तित होती रहती है। अर्थात् उसके अनन्तर द्वितीय निरन्तर चक्र लगाया करती हैं। जैसे—अवसर्पिणी के पीछे उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के पीछे पुनः अवसर्पिणी, यह चक्र घूमा करता है। और इन दोनों में शरीर, आयु, तथा शुभ परिणामों की अनन्त गुण हानि और वृद्धि भी होती चली जाती है। तात्पर्य यह कि अवसर्पिणी कालमें ज्यों-ज्यों दुष्ट कालकी उतरेंगे त्यों त्यों शरीर, आयु और शुभपरिणामों की हानी होतो जायगी और उत्सर्पिणी में इनकी वृद्धि होती जायगी। तथा अशुभ परिणामों की भी वृद्धि तथा हानि होती जाती है। अर्थात् अवसर्पिणी में आगे आगे के काल में अशुभ परिणामों की वृद्धि होती जायगी। और भरत तथा ऐरावत वर्ष के सिवाय अन्यत्र अन्य वर्षों में एक एक गुण अवस्थित रहते हैं। जैसे कुरु वर्ष में सुषमसुषमा ही सदा रहती है; हरिवर्ष तथा रम्यक में सदा सुषमा रहती है; हैमवत और हैरण्यवत वर्षों में सुषमदुःषमा रहती है, अन्तरद्वीप सहित विदेहों में दुःषमसुषमा रहती है; इसी प्रकार मनुष्य क्षेत्रों में काल विभाग सर्वत्र प्राप्त समझना चाहिये।

(१६) बहिरवस्थिताः ।

मनुष्यलोक के बाहिर ज्योतिष्क अवस्थित (स्थिर) होते हैं

(१७) वैमानिकाः ।

वैमानिक देवों का अब अधिकार कहते हैं. विमानों में उत्पन्न होते हैं वे वैमानिक.

(१८) कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।

कल्पोपपन्न और कल्पातीत (इन्द्रादि की मर्यादा रहित-अहमिन्द्र) ये दो भेद वाले वैमानिक देव हैं.

(१९) उपर्युपरि ।

वे वैमानिक देव एक एक के ऊपर (चढ़ते चढ़ते) रहे हुवे हैं.

(२०) सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार में, आनत-प्राणत में आरण अच्युत में; नव-ग्रैवेयक में, विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित में तथा सर्वार्थ-सिद्ध में वैमानिक देव होते हैं.

सुधर्मा नाम की इन्द्र की सभा है जिसमें वह सौधर्म कल्प, इशान इन्द्र का निवास स्थान वह एशान कल्प, इस तरह इन्द्र के निवास योग्य सार्थक नाम वाले कल्प जानना. लोक रूप पुरुष की ग्रीवा (गर्दन) के स्थान में रहे हुवे अथवा ग्रीवा के आभरण-भूत ग्रैवेयक जानने. आबादी में होने के विघ्न के कारणों को

जिन्होंने जीते वे विजय, वैजयन्त और जयन्त देव जानने. विघ्न हेतू से पराजय (हार) नहीं-पाए हुवे वे अपराजित सम्पूर्ण उदय के अर्थ में सिद्ध हो गये वे सर्वार्थसिद्ध.

(२१) स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ।

उनमें पूर्व पूर्व के देवता के मुकाबले में ऊपर ऊपर के देवता स्थिति (आयुष्य), प्रभाव, सुख, कान्ती, लेश्या, विशुद्धि, पटुता (इन्द्रियों की) और अवधिज्ञान के विषय में ज्यादा ज्यादा होते है.

(२२) गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।

गति, शरीरप्रमाण, परिग्रहस्थान, (परिवार वगेरा) और अभिमान में पहिले से ऊपर के देवता कम कम होते हैं.

दो सागरोपम के जघन्य आयुष्य वाले देवों की गति (गमन) सातवीं नरक तक होती है और तीर्छी असंख्यात हजार कोडाकोडी योजन होती है.

इससे आगे की जघन्य स्थिति वाले देव एक एक कमती नरक भूमीं तक जा सकते हैं. गमन शक्ति होने पर भी तीसरी नरक के आगे कोई देवता नहीं गये और जावेंगें भो नहीं। सौधर्म और ऐशान कल्प के देवों के शरीर की ऊंचाई सात हाथ की है सानत्कुमार और माहेन्द्र की छ हाथ, ब्रह्मलोक और लांतक की पांच हाथ, महाशुक्र और सहस्रार की चार हाथ, आनतादि चार की तीन हाथ, ग्रैवेयक की दो हाथ और अनुत्तर विमान वासी देव की शरीर की ऊंचाई एक हाथ है.

विमानों का अनुक्रम इस प्रकार है, पहेले देवलोक में बत्तीस लाख, दूसरे में अठाइस लाख, तीसरे में बारा लाख, चोथे में आठ लाख, पाँचवे में चार लाख, छट्ठे में पचास हजार, सातवें में

चालीस हजार, आठवें में छ हजार. नवमें दसमें में ४००, अग्यार में बारमें देवलोक में ३०० विमान हैं, नवग्रैवेयक में ३१८ विमान है, और अनुत्तर विमानों में पाँच हैं, कुल ८४९७०२३ विमान हैं। हर एक विमान में एक एक सिद्धायतन याने जिन-मन्दिर हैं।

और हर एक मन्दिर १०० योजन लम्बा ५० योजन चौड़ा और ७२ योजन ऊँचाई में हैं, १२ देवलोक तक प्रत्येक मन्दिर में १८० प्रतिमा जाननी• १२ देवलोक की कुल प्रतिमायें १५२९४४४७६० होती है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में इन्द्र नहीं हैं। वास्ते उनके ३२३ मन्दिरों में से हरएक मन्दिर में एक सौ बीस एक सौ बीस की संख्या से ३८७६० प्रतिमायें होती है।

सर्व जघन्य स्थिति वाले देवताओं को सात स्तोक मे श्वास लेना पडता है। और चतुर्थ भक्त में आहार की इच्छा होती है। पल्योपम की आयुष्यवालों को दिनके मध्य में श्वास लेना पडता है। और दिवस पृथक्त्व में आहार की इच्छा होती है। जितने सागरोपम का आयुष्य हो उतने पक्ष से श्वास लेना पड़ता है और उतने ही हजार वर्ष से आहार की इच्छा होती है। यानी तेतीस सागरोपम के आयुष्य वालों को तेतीस पक्ष (साडे सोला महिने) से श्वास लेना पडता है। तेतीस हजार वर्ष से आहार की इच्छा होती है। देवताओं को असाता, उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त और साता छ मास तक होती है। बार में देवलोक तक अन्य मति पैदा हो सकते हैं। और निह्नव नव ग्रैवेयक तक पैदा हो सकते हैं।

(२३) पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु।

तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या दो कल्प के, तीन कल्प के और बाकी के देवों में सिल सिले वार जाननी, यानी पहले दो कल्प में

तेजो लेश्या, फिर तीन कल्प में पद्म लेश्या, और लांतक से सर्वार्थ-सिद्ध तक शुक्ल लेश्या होती है.

(२४) प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।

ग्रैवेयक के पहले कल्प हैं (इन्द्रादि भेदों वाले देवलोक है) यहाँ कोई शंका करता है कि—क्या सब देवता सम्यग् दृष्टि होते हैं कि जिससे वे तीर्थंकरों के जन्मादि वक्त आनन्द पाते है ? इसका उत्तर देते हैं कि—सब देवता सम्यग् दृष्टि नहीं होते, लेकिन जो सम्यग् दृष्टि होते हैं वे सद्धर्म के बहुमान से अत्यन्त आनन्द पाते हैं. और जन्मादि के महोत्सव में जाते हैं मिथ्यादृष्टि भी मनरंजन के लिये और इन्द्र की अनुवृत्ती (इच्छानुसार) से जाते हैं. और आपस के मिलाप से हमेशा की प्रवृत्ति (आदत) होने से आनन्द पाते हैं लोकान्तिक देव तमाम विशुद्ध भाव वाले हैं. वे सद्धर्म के बहुमान से और संसार दु.ख से पीडित (दुःखी) जीवों की दया के सबब से अर्हतो के जन्मादि में ज्यादा आनन्द पाते हैं. और दिक्षा लेने का संकल्प करने वाले पूज्य तीर्थंकरों के पास जाकर प्रसन्न चित्त से स्तुती करते हैं और तीर्थ प्रवर्ताने की विनती करते हैं ।

(२५) ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ।

लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक में रहने वाले हैं.

(२६) सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतः (अरिष्टाश्च) ।

१ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वन्हि, ४ अरुण, ५ गर्दतोय, ६ तुषित, ७ अव्याबाध, ८ मरुत इन आठ भेद के लोकांतिक है (इशान कोन से लगाकर हर एक दिशा में एक एक सिल सिले वार है) अरिष्ट भी नवमां लोकान्तिक है.

(२७) विजयादिषु द्विचरमाः ।

विजयादि चार अनुत्तर विमानवासी देव द्विचरिम भववाले हैं. यानी अनुत्तर विमान से च्यव कर मनुष्य हो फिर अनुत्तर में आ मनुष्य हो सिद्ध होते हैं; सर्वार्थसिद्ध विमानवासी एकावतारी जानने.

(२८) औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।

उपपात योनी वाले (देवता और नारकी) और मनुष्य सिवाय बाकी के तिर्यग् योनी वाले जीव (तिर्यंच) जानने.

(२९) स्थितिः ।

अब स्थिती कहते हैं.

(३०) भवनेषु दक्षिणाऽर्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ।

भवनों मे दक्षिणार्ध के अधिपति की डेढ पल्योपम की स्थिति जाननी, इन्द्र की स्थिति कही उससे उपलक्षण से उनके विमानवासी सर्व देवों की जाननी.

(३१) शेषाणां पादोने ।

बाकी के यानी उत्तरार्ध अधिपति की स्थिति पोने दो पल्योपम की हैं.

(३२) असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ।

असुरकुमार के दक्षिणार्धाधिपति की सागरोपम और उत्तरार्धाधिपति की सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है.

(३३) सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ।

सौधर्मादि में सिलसिले वार स्थिति कहते हैं.

(३४) सागरोपमे ।

सौधर्मकल्प के देवों की दो सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति जाननी.

(३५) अधिके च।

ऐशान कल्प के देवों की दो सागरोपम से अधिक उत्कृष्ट स्थिति जाननी॰

(३६) सप्त सानत्कुमारे।

सानत्कुमार कल्प में सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है.

(३७) विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च।

पूर्वोक्त सात सागरोपम के साथ विशेष से लेकर सिलसिले वार जाननी, वह इस तरह— माहेन्द्र में सात सागरोपम से विशेष, ब्रह्मलोक में दस, लांतक में चौदा, महा शुक्र में सतरा, सहस्रार में अठारा, आनत प्राणत में बीस, और आरण अच्युत्त में बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति जाननी.

(३८) आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च।

आरण अच्युत के ऊपर नव ग्रैवेयक और विजयादि चार अनुत्तर और सर्वार्थसिद्ध में एक एक सागरोपम ज्यादा स्थिति जाननी. यानी पहले से नव में ग्रैवेयक तक २३ से ३१ सागरोपम, विजयादि चार अनुत्तर की बत्तीस सागरोपम और सर्वार्थसिद्ध की तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति जाननी.

(३९) अपरा पल्योपममधिकं च।

अब सौधर्मादि में जघन्य स्थिति सिलसिले वार कहते हैं सौधर्म में पल्योपम और ऐशान में अधिक पल्योपम जघन्य स्थिति जाननी.

(४०) सागरोपमे।

सानत् कुमार में जघन्य स्थिति दो सागरोपम की जाननी.

(४१) अधिके च ।

माहेन्द्र में दो सागरोपम अधिक जाननी.

(४२) परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ।

पहले पहले कल्प की जो उत्कृष्ट स्थिति वह अगले अगले कल्प की जघन्य स्थिति जाननी; सर्वार्थसिद्ध की जघन्य स्थिति नहीं है.

(४३) नारकाणां च द्वितीयादिषु ।

नारकों की दूसरी वगेरा नरक में पहले पहले की जो उत्कृष्ट स्थिति वह आगे आगे की जघन्य स्थिति जाननी; सिलसिले वार १, ३, ७, १०, १७, २२, सागरोपम दूसरे से सातवीं तक जाननी.

(४४) दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।

पहली नरक भूमि में दश हजार वर्ष की जघन्य स्थिति है.

(४५) भवनेषु च ।

भवनपति में भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की है.

(४६) व्यन्तराणां च ।

व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है.

(४७) परा पल्योपमम् ।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम की है.

(४८) ज्योतिष्काणामधिकम् ।

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम से कुछ अधिक है.

(४९) ग्रहाणामेकम् ।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की हैं.

(५०) नक्षत्राणामर्धम् ।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति आधे पल्योपम की हैं.

(५१) ताराकाणां चतुर्भागः ।

तारों की पल्योपम का चौथा भाग उत्कृष्ट स्थिति है.

(५२) जघन्या त्वष्टभागः ।

तारों की जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवां भाग है.

(५३) चतुर्भागः शेषाणाम् ।

तारों सिवाय बाकी के ज्योतिष्कों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है.

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

जीव पदार्थ का स्वरूप बतलाकर अब अजीव पदार्थ बतलाते हैं—

(१) अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, ये चार अजीव काय हैं. प्रदेश रूप अवयव का ज्यादा होना बतलाने के लिये और काल के समय में प्रदेश पना नहीं ये बतलाने के लिये "काय" को ग्रहण किया है.

(२) द्रव्याणि जीवाश्च ।

ये धर्मादि चार और जीव, ये पांच द्रव्य हैं.

(३) नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।

ये द्रव्य नित्य (अपने स्वरूप में हमेशा रहें वे) अवस्थित (संख्या में न्यूनाधिक नहीं) और अरूपी हैं.

(४) रूपिणः पुद्गलाः ।

पुद्गल रूपी-मूर्त है.

(५) आऽऽकाशादेकद्रव्याणि ।

धर्मास्तिकाय से लगाकर आकाश तक द्रव्य एक एक हैं.

(६) निष्क्रियाणि च ।

ये पूर्वोक्त तीन द्रव्य निष्क्रिय (क्रिया रहित) हैं.

(७) असंख्येयाः प्रदेशा धर्माऽधर्मयोः ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश असंख्येय हैं.

(८) जीवस्य च ।

एक जीव के प्रदेश भी असंख्यात हैं.

(९) आकाशस्यानन्ताः ।

लोकालोक के आकाश के प्रदेश अनन्त है लेकिन लोकाकाश के असंख्येय प्रदेश हैं.

(१०) संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।

पुद्गलों के प्रदेश संख्येय; असंख्येय और अनन्त होते हैं.

(११) नाणोः ।

परमाणु के प्रदेश नहीं होते.

(१२) लोकाकाशेऽवगाहः ।

लोकाकाश में अवगाह (जगह) होती है यानी रहने वाले द्रव्य की स्थिति (रहना) लोकाकाश में होती है (अवगाही द्रव्यों की स्थिति लोकाकाश में हैं)

(१३) धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने ।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का समस्त लोकाकाश में अवगाह है.

(१४) एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।

पुद्गलों का एकादि आकाशप्रदेश में अवगाह विकल्प वाला है. कितनेक एक प्रदेश में, कितनेक दो प्रदेश में यहाँ तक की अचित्त महास्कन्ध तमाम लोक में अवगाह-स्थिति कर रहता है.

अप्रदेश, संख्येय प्रदेश, असंख्येय प्रदेश और अनन्त प्रदेश वाले जो पुद्गल स्कन्ध हैं उनका आकाश के एकादि प्रदेशों में अवगाह भाज्य है (भजना वाला है) यानी–एक परमाणु तो एक आकाश प्रदेश में ही रहता है, दो परमाणू वाला स्कन्ध एक प्रदेश या दो प्रदेश में ही रहता है त्र्यणुक (तीन परमाणूवाला स्कंध) एक दो या तीन प्रदेशों में रहता है, चतुरणुक, एक, दो, तीन या चार प्रदेशों में रहता है. इस तरह चतुरणुक से लगाकर संख्याता, असंख्याता, प्रदेशवाला एक से लगाकर संख्याता, असंख्याता प्रदेश में अवगाह करता है और अनन्त प्रदेश वाले का अवगाह भी एक से लगाकर असंख्यात प्रदेश में ही होती है.

(१५) असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।

लोकाकाश के असंख्यात में भाग से लगाकर सम्पूर्ण लोकाकाश प्रदेश में जीवों का अवगाह होता है.

(१६) प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ।

दीपक के प्रकाश की तरह जीवों के प्रदेश संकोच तथा विस्तार वाले होने से असंख्येय भागादि में अवगाह होता है जैसा कि दीपक मोटा होने पर भी छोटे गोखले वगेरा में ढक रक्खा हो तो उतनी जगह में प्रकाश करता है और बड़े मकान में रक्खा हो तो उस

मकान में सब जगह प्रकाशित रहता है; इस तरह जीव प्रदेश का संकोच और विस्तार होने से छोटे या मोटे पाँच प्रकार के शरीर स्कन्ध को धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवप्रदेश समुदाय अवगाहना में प्राप्त करता है, धर्म, अधर्म, आकाश और जीव अरूपी होने से आपस में पुद्गलों में रहते विरोध नहीं आता।

अब धर्मास्तिकायादि के लक्षण कहते हैं—

(१७) गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ।

गति सहाय रूप प्रयोजन (गुण) धर्मास्तिकाय का और स्थिति सहाय रूप प्रयोजन अधर्मास्तिकाय का है.

(१८) आकाशस्यावगाहः ।

आकाश का प्रयोजन सर्व द्रव्यों को अवगाह अवकाश देने का है.

(१९) शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।

शरीर, वचन, मन, प्राण (उच्छ्वास) और अपान (निःश्वास) ये पुद्गलों का प्रयोजन कार्य जीव को है.

(२०) सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।

सुख, दुःख, जीवित और मरण के कारण पुद्गल हीं होते हैं. इच्छा माफिक स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द की प्राप्ति सुख का कारण, अनिष्ट (इच्छा के खिलाफ) स्पर्शादि की प्राप्ति दुःख का कारण, विधि पूर्वक स्नान, आच्छादन (पहनना) विलेपन तथा भोजनादि में आयुष्य का अनपवर्तन (कम नहीं होना) वह जीने का कारण और विष, शस्त्र, अग्नि वगेरा से आयुष्य का अपवर्तन कम होना वह मरण का कारण है.

(२१) परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।

आपस में हिताहित के उपदेश से सहायक होना जीवों का प्रयोजन हैं.

(२२) वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।

वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व – ज्येष्ठपना और अपरत्व – कनिष्ठपना ये काल का कार्य है.

सब पदार्थों की काल के आधार पर जो वृत्ति वह वर्तना जाननी यानी प्रथम समयाश्रित उत्पत्ति स्थिति वह वर्तना.

अनादि और आदि । इस तरह दो प्रकार के परिणाम है. क्रिया यानी गति वह तीन प्रकार की प्रयोग गति विश्रसा गति- और मिश्रसा गति, परत्वापरत्व तीन प्रकार का है, प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत. जैसे–कि धर्म और ज्ञान पर हैं, अधर्म और अज्ञान अपर है वह प्रशंसाकृत, एक देश काल में स्थित पदार्थों में जो दूर है वह पर, और जो नजदीक है वह अपर, क्षेत्रकृत जानना. सो वर्ष वाला सोला वर्ष वाले की अपेक्षा (मुकाबला) से पर, और सोला वर्ष वाला सो वर्ष वाले की अपेक्षा से अपर, यह कालकृत.

(२३) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं.

स्पर्श आठ प्रकार का है–कर्कश, सुंवाला, भारी, हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और लूखा. रस पांच प्रकार का है–कडवा, तीखा, कषायला, खट्टा और मधुर. गन्ध दो प्रकार का है–सुरभि (अच्छा) और दुरभि (खराब) । वर्ण पांच प्रकार का है—काला, नीला (हरा), लाल, पीला और सफेद.

(२४) शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योत-वन्तश्च ।

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान भेद (भाग–हिस्से होना), अन्धेरा, छाया, आतप (तडका) और उद्योत वाले भी पुद्गल हैं.

शब्द छ प्रकार के हैं:—तत (वीणादि का), वितत (मृदंगादि का) घन (कांसी-कर तालादि का) शुषिर (बांसुरी वगेरा का), घर्ष (घीसने से पैदा हो वह) और भाषा (वाणी का), बंध तीन प्रकार के हैं. प्रयोग बंध (पुरुष प्रयत्न—उपाय से हुवा औदारिक वगेरा शरीर का बंध), विश्रसा बंध (इन्द्र धनुष्य वगेरा की तरह विषम गुण वाला परमाणु को खुद हो वह धर्म, अधर्म और आकाश का बन्ध वह अनादि विश्रसा) और मिश्रबन्ध (जीव द्रव्य का सहचारी अचेतन द्रव्यपरिणत बंध स्तंभ कुंभ वगेरा) सूक्ष्मता दो प्रकार की है. अन्त्य और आपेक्षिक परमाणु में–अन्त्य बहुत हो और द्वयणुकादि में संघात परिणाम की अपेक्षा से आपेक्षिक. जैसे आमले से बोर छोटा है, स्थूलता भी संघात-परिणाम की अपेक्षा से दो प्रकार की है.

सर्वलोक व्यापी महा स्कंध में अन्त्य स्थूलता और बोर से आमला मोटा वह आपेक्षिक–मिलान की स्थूलता। संस्थान अनेक प्रकार के है.

भेद पांच प्रकार का है–औत्कारिक (काष्टादि चीरने से यह), चौर्णिक (चूर्ण–भूका करने से), खंड (टुकडा करने से), प्रतर (बादलादि के बिखरने से) और अनुतट (तपाये हुए लोह को घण से कूटने से कणियें निकले वह) तमः—अन्धकार, छाया, आतप–सूर्य का उष्ण प्रकाश, उद्योत–चन्द्र का अनुष्ण प्रकाश।

(२५) अणवः स्कन्धाश्च ।

अणु और स्कन्ध ये दो प्रकार के पुद्गल है.

(२६) संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।

संघात (इकट्ठा होना), भेद (भाग पडना) और संघात भेद इन तीन कारणों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं.

(२७) भेदादणुः ।

भेद से अणु उत्पन्न होता है।

(२८) भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः ।

चक्षु से दिख सके ऐसे स्कन्ध, भेद और संघात से होते हैं ।

धर्मास्तिकायादि पदार्थ हैं यह किस तरह जाना जावे ? इस वास्ते सत्-वर्तमान का लक्षण कहते हैं ।

(२९) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।

उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (नाश) और ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त-मिला हुवा वह सत् (होना-वर्तमान) जानना.

इस संसार में हरएक पदार्थ उत्पाद, व्यय और स्थिती से युक्त है।

आत्मद्रव्यों में मनुष्यत्वादि पर्याय रूप से आत्मद्रव्य का व्यय होता है । देवतादि पर्याय से उनकी उत्पत्ति होती है और आत्मत्व स्वरूप से उनकी स्थिति है. पुद्गलद्रव्य में नीलवर्णादिपर्याय से परमाणु का नाश होता है. रक्तवर्णादि से उनकी उत्पत्ति होती है। पुद्गलत्व स्वरूप से उनकी स्थिति है । धर्मास्तिकाय द्रव्य में गतिमान जीव पुद्गल के निमित्त किसी प्रदेश में चलन सहायत्व स्वरूप से धर्मास्तिकाय की उत्पत्ति होती है । जब जीव और पुद्गल दूसरे प्रदेश की तरफ जाते हैं, तब उस स्थल और उस पदार्थ के लिये चलनसहायत्व स्वरूप से धर्मास्तिकाय नष्ट होता है और धर्मास्तिकायत्व स्वरूप से धर्मास्तिकाय ध्रुव है. इस तरह अधर्मास्तिकाय में भी जान लेना, भेद इतना ही की वह स्थिति (ठहरने) का कारण है. एकान्त से आत्मा को नित्य ही मानने में आवे तो उसके

एक स्वभाव से अवस्था का भेद न हो सके और ऐसा हो तो संसार और मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है ।

जो अवस्था के भेद को कल्पित माने तो वस्तु की अवस्था का भेद उस वस्तु का स्वभाव नहीं होने से वह यथार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, उसको वस्तु का स्वभाव ही मानने में आवे तो वस्तु अनित्य माने बगेर अवस्थान्तर–दूसरी अवस्था की उत्पत्ति ही न हो सके इससे एकान्त नित्य का अभाव होता है। इस तरह एक ही पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीनों अंश न माने जावें तो मनुष्यादि वह देवादि रूप न हों ऐसा न हो. तो यम-नियमादि का पालन करना निरर्थक–बेकायदा हो. ऐसा होने से आगम वचन वचन मात्र ही हो. ये सब उत्पाद, व्यय, व्यवहार से बताये हुए हैं।

निश्चय से तो हर एक पदार्थ हर क्षण उत्पादादि युक्त हैं, ऐसा मानने से ही भेद की सिद्धि होती है. कहा है कि—हरेक व्यक्ति में क्षण क्षण भिन्न भिन्न पणा होता है. इससे नरकादि गति के, संसार और मोक्ष के भेद घटतें हैं। हिंसादि नरकादि का कारण है, सम्यक्त्वादि अपवर्ग का (मोक्ष का) कारण है, ये सब उत्पादादि युक्त वस्तु को स्वीकार करने से घटता है, जो उत्पादादि रहित वस्तु को माने तो युक्ति से ये सब घट नहीं सकता।

(३०) तद्भावाव्ययं नित्यम् ।

जो उस स्वरूप से नाश न पावे वह नित्य है. ।

(३१) अर्पितानर्पितसिद्धेः ।

(पदार्थों की सिद्धि) व्यवहार नय और निश्चय नय के ज्ञान से होती है. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन रूप सत् और नित्य इन दोनों मुख्य और गौण भेद से सिद्ध है. जैसा कि द्रव्य रूप से मुख्य करके और पर्याय रूप से गौण करके पदार्थ द्रव्य रूप कहलाता है.

(३२) स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ।

स्निग्धता और रूक्षत्व (सुबास) से बंध होता है यानी स्निग्ध पुद्गलों का लूखे पुद्गलों के साथ बन्ध होता है ।

(३३) न जघन्यगुणानाम् ।

एक गुणे (अंश) वाले स्निग्ध रूक्ष पुद्गलों का बन्ध नहीं होता।

(३४) गुणसाम्ये सदृशानाम् ।

गुण की समानता होने पर भी सदृश (एक जात के) पुद्गलों का बन्ध नहीं होता. यानी समान गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों का स्निग्ध पुद्गलों के साथ और रूक्ष का वैसे रूक्ष पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता ।

(३५) द्व्यधिकादिगुणानां तु ।

द्विगुणादि अधिकगुण वाले एकजात के पुद्गलों का बन्ध होता है ।

(३६) बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।

बन्ध होने पर समानगुण वाले का समानगुण परिणाम और हीन गुण का अधिक गुण परिणाम होता है ।

(३७) गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ।

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है; यानी गुण और पर्याय जिसमें है वह द्रव्य है ।

(३८) कालश्चेत्येके ।

कितनेक आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं ।

(३९) सोऽनन्तसमयः ।

वह काल अनन्त समयात्मक है ।

वर्तमान काल एक समयात्मक और अतीत अनागत काल अनन्त समयात्मक है ।

(४०) द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।

जो द्रव्य के आश्रय से रहे और खुद निर्गुण हो वह गुण है ।

(४१) तद्भावः परिणामः ।

वस्तु का स्वभाव वह परिणाम पूर्वोक्त धर्मादि द्रव्यों का तथा गुणों का स्वभाव वह परिणाम जानना ।

(४२) अनादिरादिमांश्च ।

अनादि और आदि इस तरह दो प्रकार का परिणाम है; अरूपी द्रव्यों में अनादि परिणाम है ।

(४३) रूपिष्वादिमान् ।

रूपी में आदिपरिणाम है वह आदिपरिणाम अनेक प्रकार का है ।

(४४) योगोपयोगौ जीवेषु ।

जीव में भी योग और उपयोग के परिणाम आदि वाले हैं ।

❀ इति पञ्चमोऽध्यायः ❀

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

[१] कायवाङ्मनःकर्म योगः ।

काय सम्बन्धी, वचन सम्बन्धी और मन सम्बन्धी जो कर्म (क्रिया-प्रवर्तन-व्यापार) वह योग कहलाता है ।

वे हरेक शुभ और अशुभ दो प्रकार के हैं, अशुभ योग इस तरह जानना—हिंसा और चोरी वगैरा कायिक; निंदा झूठ बोलना कठोर वचन और चाडी वगैरा वाचिक, और किसी का धन हरण

करने की इच्छा, मारने की इच्छा, ईर्ष्या, असूया (गुण में दोषारोपण) वगैरा मानसिक, इससे विपरीत वे शुभ योग जानने।

[२] स आस्रवः।

पूर्वोक्त योग वह आश्रव (कर्म आने के कारण) हैं।

[३] शुभः पुण्यस्य।

शुभ योग वह पुण्य का आश्रव–बन्ध हेतु है।

[४] अशुभः पापस्य।

अशुभयोग पाप का आश्रव है।

[५] सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।

सकषायी (क्रोधादि वाले) को साम्परायिक और अकषायी (कषाय-रहित) को ईर्यापथिक (चलने सम्बन्धी एक समय की स्थिती का) आश्रव बंध हेतु होता है।

[६] अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः।

इन पूर्वोक्त (साम्परायिक) आश्रवों के भेद अव्रत कषाय इन्द्रिय और क्रिया हैं. उनके सिलसिलेवार पांच, चार, पांच और पचीस भेद हैं।

हिंसा, असत्य, चौरी, मैथुन, परिग्रह ये पांच अव्रत। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय। इन्द्रिय पांच और पचीस क्रिया. क्रियायें २५ ये हैं १ सम्यक्त्व, २ मिथ्यात्व, ३ प्रयोग, ४ समादान, ५ ईर्यापथ, ६ काय, ७ अधिकरण ८ प्रद्वेष, ९ परितापन, १० प्राणातिपात, ११ दर्शन (दृष्टिः), १२, स्पर्शन, १३ प्रत्यय, १४ समन्तानुपात १५ अनाभोग, १६ स्वहस्त, १७ निःसर्ग, (नैशस्त्र), १८ विदारण १९ आनयन, २० अनवकांक्षा, २१ आरम्भ, २२

परिग्रह, २३ माया, २४ मिथ्यात्व दर्शन, और २५ अप्रत्याख्यान. (ये पचीस क्रियाएं नव तत्त्व में दी हुई २५ क्रियाओं जैसी भाव वाली है नवतत्व में दी हुई प्रेम और द्वेष ये दो क्रियाओं इसमें नहीं दी और उनके बदले सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ये दो क्रियायें दी है)

१ शुद्ध दर्शन मोहनीय (सम्यक्त्व मोहनीय) के दलियों के अनुभव से प्रशम आदि लक्षण से जाना जा सके ऐसी जो जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा रूप, जिन-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधुओं के योग्य पुष्प, धूपादि सामग्री से पूजन और अन्न-पान वस्त्रादि देने रूप अनेक प्रकार की वैयावच्च करने रूप, शुद्ध सम्यक्त्वादि भाव वृद्धि के हेतुभूत देवादि के जन्म महोत्सव करने वगेरा साता वेदनीय बन्ध के कारणभूत सम्यक्त्व क्रिया. २ सम्यक्त्व से विपरीत वह मिथ्यात्व क्रिया ३ धावन वल्गनादि काय व्यापार, कठोर और असत्य भाषण वगेरा वचन व्यापार और ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान वगेरा मनो व्यापार रूप क्रिया वह प्रयोग क्रिया ४ इन्द्रियों की क्रिया अथवा आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों का ग्रहण वह समादान क्रिया ५ गमनाऽगमन रूप क्रिया वह ईर्यापथ क्रिया। इस क्रिया से सिर्फ केवली को हीं काय योग से एक समय का बन्ध होता है ६ काय का दुष्ट व्यापार वह काय क्रिया। ७ दूसरे का उपघात करे ऐसे गलपाश, घण्टी वगेरा अधिकरण वगैरा से जीवों का हनन करना वह अधिकरण क्रिया। ८ प्रकृष्ट दोष वह प्रदोष क्रोधादि से जो जीव अथवा अजीव पर द्वेष करना वह प्रदोष क्रिया। ९ अपने या दूसरे के हाथ से खुद को या दूसरे को पीडा करनी वह परितापन क्रिया। १० खुद के या दूसरे के जीव को हणना या हणाना वह प्राणातिपात क्रिया। ११ रागादि कौतुक से अश्वादि देखने वह दर्शन क्रिया। १२ रागादि के वश स्त्री आदि के अंगों को स्पर्श करना वह स्पर्शन क्रिया। १३ जीव, अजीव, आश्रयी

जो कर्मबंध वह प्रत्यय क्रिया अथवा कर्मबंध का कारणभूत अधिकरण आश्रयी क्रिया वह प्रत्यय क्रिया। १४ अपने भाई, पुत्र, शिष्य, अश्व (घोडा) वगेरा की सब दिशाओं से देखने आये हुए लोगों से प्रशंसा (तारीफ) की जाने से जो खुश होना वह समन्तानुपात क्रिया अथवा घी, तेल वगेरा के बरतन उघाड़े रखने से उनमें त्रसादि जीव पड़ने से जो क्रिया लगे वह। १५ उपयोग रहित शून्यचित्त से करना वह अनाभोग क्रिया। १६ दूसरे के करने लायक काम, बहुत अभिमान से गुस्से होने के कारण अपने हाथ से करे वह हस्त क्रिया। १७ राजा आदि के हुकम से यन्त्र, शस्त्रादि घडाने वह निःसर्ग क्रिया। १८ जीव अजीव का विदारण करना अथवा कोई मौजूद न हो उस वक्त उसके दूषण प्रकाश (जाहिर) कर उसकी मान प्रतिष्ठा का नाश करना वह विदारण क्रिया। १९ जीव या अजीव को दूसरे के द्वारा बुलाने वह आनयन क्रिया। २० वीतराग की कही हुई विधि में स्व-पर के हित के लिये प्रमाद वश होकर अनादर करना अनवकांक्षा क्रिया। २१ पृथ्वीकायादि जीवों का उपघात करने वाले खेती वगैरा का आरम्भ करना अथवा घास वगैरा छेदना (काटना) वह आरम्भ क्रिया। २२ धनधान्यादि उपार्जन (पैदा) करना और उसके रक्षण की मूर्च्छा (ममत्व) रखनी वह परिग्रह क्रिया। २३ कपट से दूसरे को ठगना-मोक्ष के साधन ज्ञानादि में कपट प्रवृत्ति वह माया क्रिया। २४ जिनवचन से विपरीत (उल्टा) श्रद्धान करना तथा विपरीत प्ररूपणा करनी वह मिथ्या दर्शन क्रिया २५ संयम के विघातकारी कषायादि का त्याग नहीं करना वह अप्रत्याख्यान क्रिया. नवतत्त्वादि प्रकरणादि के विषय में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दो क्रियाओं की जगह प्रेम प्रत्यय (माया और लोभ के उदय से दूसरों को प्रेम उपजाना) और द्वेष प्रत्यय (क्रोध और मान के उदय से द्वेष उपजाना) ये दो क्रियायें हैं और बाकी की सब एकसा है.

सरागी जीव स्वामी होने से उसकी मुख्यता लेकर सम्यक्त्व के बदले प्रेम प्रत्यय, कदाग्रही वगैरा मिथ्यादृष्टिः स्वामी होने से मिथ्यात्व के बदले द्वेष प्रत्यय क्रिया का वहाँ वर्णन किया हुवा है ऐसा समझना.

[७] तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्य्याधिकरणविशेषेभ्यस्त-
द्विशेषः ।

इन गुनचालीस सांपरायिक आश्रव के भेदों की तीव्र-मंद और ज्ञात-अज्ञात भाव विशेष से और वीर्य तथा अधिकरण विशेष से विशेषता है।

[८] अधिकरणं जीवाऽजीवाः ।

जीव तथा अजीव ये दो प्रकार के अधिकरण हैं. फिर उन दोनों के दो दो प्रकार है. द्रव्य अधिकरण और भाव अधिकरण। द्रव्याधिकरण छेदन भेदनादि दशविध शस्त्र और भावाधिकरण एकसो आठ प्रकार के हैं।

[९] आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।

पहला यानी जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इस तरह तीन भेदो का है. फिर उन हरएक के मन, वचन और काया इन तीन योगों के करके तीन तीन भेद होते हैं यानी नौ भेद हुवे. वे फिर उन हरएक के करना, कराना और अनुमोदना इन तीन कारणों से तीन तीन भेद होते हैं यानी २७ भेद हुवे. फिर उन हर-एक के क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से चार चार भेद होते हैं यानी कुल १०८ भेद हुवे।

वे इस तरह-क्रोधकृत वचन संरम्भ, मानकृत वचन संरम्भ मायाकृत वचन संरम्भ और लोभकृत वचन संरम्भ ये चार और कारित तथा अनुमत के चार-चार मिलकर बारा भेद वचन संरम्भ के हुवे इसी तरह काय और मन संरम्भ के बारा-बारा भेद लेने से छत्तीस भेद संरंभ के हुए आरंभ और समारंभ के छत्तीस-छत्तीस गिनते १०८ भेद होते हैं।

संरम्भः सकषायः परितापनया भवेत्समारम्भः।
आरम्भः प्राणिवधः त्रिविधो योगस्ततो ज्ञेयः ॥

संकल्प-मारने का विचार वह संरम्भ, पीड़ा उपजानी वह समारम्भ, और हिंसा करनी वह आरम्भ कहलाता है।

(१०) निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्।

दूसरे अजीवाधिकरण से-निर्वर्तना के दो (मूल गुण निर्वर्तना-शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान ये मूल गुण निर्वर्तना और उत्तर गुण निर्वर्तना-काष्ट, पुस्तक, चित्र वह उत्तर गुण निर्वर्तना) निक्षेपाधिकरण के चार (अप्रत्यवेक्षित, दुष्प्रमार्जित, सहसा और अनाभोग-संस्कार), संयोगाधिकरण के दो (भक्तपान और उपकरण) और निसर्गाधिकरण के तीन (काय, वचन और मन) भेद हैं।

(११) तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः।

ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों दर्शन, दर्शनी और दर्शन के साधनों के ऊपर द्वेष करना, निह्नवपणाँ (गुरु ओलवना-ओछे ज्ञान वाले पास भणा हो लेकिन अपनी प्रशंसा के वास्ते बड़े विद्वान् पास भणा हुवा है ऐसा बतलाना), मात्सर्य (ईर्ष्या भाव), अन्तराय (विघ्न), आशातना और उपघात (नाश) करना वे छ ज्ञाना-वरण तथा दर्शनावरण के आश्रव बंध के कारण है।

(१२) दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ।

दुःख, शोक, पश्चाताप, रुदन, वध और परिदेवन (हृदयफाट रुदन, जिससे निर्दय को भी दया उत्पन्न हो), ये खुद को करने, दूसरे को उत्पन्न करने अथवा दोनों में उत्पन्न करने ये असाता वेदनीय के आश्रव हैं ।

(१३) भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।

प्राणी मात्र की और व्रतधारियों की ज्यादा अनुकम्पा (दया) दान, सराग संयम, (रागवाला चारित्र), देशविरति चारित्र, बालतप, सत्क्रिया रूप योग, क्षमा और शौच, इस प्रकार साता वेदनीय के आश्रव-बंध हेतु हैं ।

(१४) केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।

केवली भगवान्, श्रुत, संघ, धर्म और (चार प्रकार के) देव का अवर्णवाद (निंदा) ये दर्शन मोहनीय के आश्रव के हेतु हैं ।

(१५) कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।

कषाय (सोला कषाया और नव नोकषाय) के उदय से पैदा हुवा तीव्र आत्मपरिणाम वह चारित्र मोहनीय का आश्रव है ।

(१६) बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः ।

बहोत आरम्भ परिग्रहपणा ये नारक आयुष्य का आश्रव है ।

(१७) माया तैर्यग्योनस्य ।

माया तिर्यंच योनी का आयुष्य का आश्रव है ।

(१८) अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।

अल्प आरम्भ परिग्रहपणां, स्वाभाविक नम्रता और सरलता (ये मनुष्यायुष्य का आश्रव है)।

(१९) निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।

शील रहित पणा में सर्व (पूर्वोक्त तीन आयुष्यों का आश्रव है) ।

(२०) सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य ।

सराग संयम, संयमासंयम (देशविरतिपणा) अकामनिर्जरा और बालतप (अज्ञानतप) ये देवायु के आश्रव है ।

(२१) योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।

मन वचन और काय योग की वक्रता (कुटिलता) तथा विसंवादन (अन्यथा प्ररूपणा, चिन्तन क्रिया वगेरा) ये अशुभ नाम कर्म के आश्रव हैं ।

(२२) विपरीतं शुभस्य ।

ऊपर कहे हुवे से विपरीत (उलटा) यानी मन, वचन, काय योग की सरलता और यथायोग्य प्ररूपणा ये शुभ नामकर्म का आश्रव हैं ।

(२३) दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ।

उत्कृष्ट (सबसे ज्यादा) दर्शनशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील-व्रतों में अनतिचारपणा, निरन्तर (बराबर) ज्ञानोपयोग तथा संवेग

(मोक्ष सुख की अभिलाष–मोक्ष साधने का उद्यम), यथाशक्ति दान और तप, संघ और साधुओं की समाधि और प्रवचन की भक्ति, आवश्यक (प्रतिक्रमण वगेरा जरुरी योग) का करना, शासन प्रभावना और प्रवचन वत्सलता ये तीर्थंकर नामकर्म के आश्रव हैं ।

(२४) परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।

परनिंदा, आत्मप्रशंसा, दूसरे के मौजूद होते गुण का आच्छादन और खुद के न होने पर गुण को प्रगट करना, ये नीचगोत्र के आश्रव हैं ।

(२५) तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।

ऊपर कहे हुवे से विपरीत (उलटा) यानी आत्मनिंदा, परप्रशंसा, अपने मौजूद होने पर गुण का आच्छादन और दूसरे की मौजूदगी होने पर गुण को प्रगट करना, नम्र वृत्ति का प्रवर्तन और किसी के साथ गर्व नहीं करना, ये उच्चगोत्र का आश्रव है ।

(२६) विघ्नकरणमन्तरायस्य ।

विघ्न करना ये अन्तराय कर्म का आश्रव है । इस प्रकार से सांपरायिक के आठ प्रकार के जुदे-जुदे आश्रव जानने ।

(इति षष्ठोऽध्यायः)

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

(१) हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरमना वह व्रत है । यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रहता ये पाँच व्रत है ।

(२) देशसर्वतोऽणुमहती ।

इस हिंसादिक की देश से विरति वह अणुव्रत और सर्वथा से विरति वह महाव्रत कहलाता है ।

(३) तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।

इन व्रतों की स्थिरता के लिये हरएक की पाँच पांच भावना होती है। पांच व्रत की भावना इस तरह— १. ईर्यासमिति, २. मनोगुप्ति, ३. एषणासमिति, ४. आदान निक्षेपण समिति और ५. आलोकित (अच्छे प्रकाश वाले स्थान और भाजने में अच्छी तरह देखकर जयणा सहित भात-पाणी वापरना। यह पांच अहिंसा-व्रतों की, और १ विचार कर बोलना २ क्रोध त्याग, ३ लोभ त्याग, ४ भय त्याग और ५ हास्य त्याग, यह पांच सत्य व्रतों की; १ अनिंद्य वसती (क्षेत्र) का याचन (मांगना), २ बार-बार वसती का याचन, ३ जरुरत पूरी करने चीज का याचन, ४ साधर्मिक के पास से ग्रहण (लेना) तथा याचन और ५ गुरु की अनुज्ञा (आज्ञा) लेकर पान और भोजन (पीना और खाना) करना। यह पाँच अस्तेय व्रतों की; १ स्त्री, पशु, पंडक (नपुंसक) वाले स्थान में नहीं वसना, २ राग युक्त स्त्री कथा न करनी, ३ स्त्रियों के अंगोपांग नहीं देखना। ४ पहले किये हुवे विषय भोग याद नहीं करने। ५ और काम उत्पन्न करें ऐसे भोजन काम में नहीं लेने यह पांच ब्रह्मचर्य व्रतों की और अकिंचन व्रतों की स्थिरता के लिये पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय पर राग आसक्ति करनी नहीं और अनिष्ट विषय पर द्वेष करना नहीं ये पाँच पाँच भावना जाननी ।

(४) हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् ।

हिंसादि में इस लोक और परलोक के अपाय दर्शन (श्रेयोर्थ-यश के लिये के नाश की दृष्टि) और अवद्य दर्शन (निंदनीय पणा

की दृष्टि) की भावना करनी यानी—हिंसादिक से इस लोक और परलोक में खुद के श्रेय का नाश होता है और खुद की निन्दा होती है, ये बात लक्ष्य (ध्यान) में रखनी मतलब कि उनसे होने वाले और होने के नुकसान याद कर उनसे विरमना (दूर हटना)।

(५) दुःखमेव वा।

अथवा हिंसादि में दुःख ही है ऐसा भाव रखना।

(६) मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

सब जीवों के साथ मित्रता, गुणाधिक पर प्रमोद, दुःखी जीवों पर करुणाबुद्धि और अविनीत (मूढ) जीवों पर मध्यस्थता (उपेक्षा) धारण करनी।

(७) जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम्।

संवेग और वैराग्य के वास्ते जगतस्वभाव की और काय स्वभाव की भावना करनी।

सब द्रव्यों का अनादि या आदि परिणाम से प्रगटन, अन्तरभाव, स्थिति, अन्यत्व; परस्पर अनुग्रह और विनाश की भावना करनी वह जगत् स्वभाव ये काया अनित्य, दुःख की हेतु भूत, असार और अशुचि से भरी हुई है, ऐसी भावना करनी वह कायस्वभाव, संसार भीरुता, आरम्भ, परिग्रह में दोष देखने से अरति, धर्म और धर्मी में बहुमान, धर्मश्रवण और साधर्मी के दर्शन में मन की प्रसन्नता और उत्तरोत्तर गुण की प्राप्ति की श्रद्धा वह संवेग-शरीर भोग और संसार की उद्विग्नता (ग्लानी) से जो पुरुष उपशान्त हुवा उसकी बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि में अनासक्ति वह वैराग्य।

(८) प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।

प्रमत्तयोग (मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा के व्यापार) से प्राण का नाश करना वह हिंसा ।

(९) असदभिधानमनृतम् ।

मिथ्या कथन वह अनृत (असत्य) है । असत् शब्द से यहाँ सद्भाव का प्रतिषेध अर्थान्तर और गर्हा ये तीन ग्रहण करने । आत्मा नहीं, परलोक नहीं, इस तरह बोलना वह भूतनिह्नव (मौजूदा वस्तु का निषेध करना) और चांवल के दाणों जितना अथवा अंगूठे के पर्व जितना आत्मा है, ऐसा कहना वह अभूतोद्-भावन (असत् पदार्थ का प्रतिपादन करना), इन दो भेदों से सद्भाव प्रतिषेध है । गाय को अश्व और अश्व को गाय कहना वह अर्थान्तर. हिंसा कठोरता और पैशून्य वगेरा से मिले हुवे वचन वह गर्हा ।

वह सत्य होने पर भी निन्दित होने से असत्य ही है ।

(१०) अदत्तादानं स्तेयम् ।

अदत्त (किसी की नहीं दी हुई) चीज का ग्रहण वह चौरी कहलाती है ।

(११) मैथुनमब्रह्म ।

स्त्रीपुरुष का कर्म-मैथुन (स्त्रीसेवन) वह अब्रह्म कहलाता है ।

(१२) मूर्च्छा परिग्रहः ।

मूर्छा (राग से मम्मत से तर्जना रक्षण) की अभिलाषा रखना वह मूर्छा—परिग्रह है ।

(१३) निःशल्यो व्रती ।

शल्य (माया, नियाणा और मिथ्यात्व) रहित हो । वह व्रती कहलाता है ।

(१४) अगार्यनगारश्च ।

पूर्वोक्त व्रती अगारी (गृहस्थ) और अणगारी (साधु) इन दो भेदों से होता है।

(१५) अणुव्रतोऽगारी ।

अणुव्रत वाला अगारी व्रती कहलाता है।

(१६) दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ।

दिक् परिमाण व्रत, देशाऽवकाशिक व्रत, अनर्थदण्डविरमण व्रत, सामायिक व्रत, पौषधोपवास व्रत, उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत, और अतिथिसंविभाग व्रत इन व्रतों से भी युक्त हो वह अगारी व्रती कहलाता है। यानी पांच अणुव्रत और ये सात (शील) मिलकर बारा व्रत गृहस्थ के होते हैं।

दश दिशाओं में जाने आने का परिमाण (हदबन्दी) करनी वह दिग् व्रत, खुद को आवरण करने वाले घर, क्षेत्र, ग्राम वगेरा में गमनाऽगमन का यथाशक्ति अभिग्रह वह देश व्रत, भोगोपभोग से व्यतिरिक्त पदार्थों के लिये दंड (कर्मबंध) वह अनर्थ दंड, उसकी विरति वह अनर्थ दंड विरमण व्रत, नियत काल तक सावद्य (पाप) योग का त्याग वह सामायिक व्रत, पर्व के दिन उपवास कर पौषध करना वह पौषधोपवास व्रत। बहुत सावद्य उपभोग परिभोग योग्य वस्तु का परिमाण (नियमन) वह उपभोग-परिभोग व्रत। खान पानादि एक वक्त भोगे जावें वह उपभोग और वस्त्र अलंकारादि बारंबार भोगे जावे वह परिभोग।

न्यायोपार्जित द्रव्यों से तैयार किया हुवा कल्पनीय आहारादि पदार्थ देश, काल, संस्कार और श्रद्धा योग से अत्यन्त अनुग्रह बुद्धि से संयमी पुरुषों को देना वह अतिथि संविभागव्रत है।

(१७) मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ।

फिर वह व्र धारी मारणान्तिक संलेखना का सेवनार होना चाहिये। काल, संघयण, दुर्बलता और उपसर्ग दोष से धर्मानुष्ठान की परिहाणी जानकर उणोदरी आदि तप से आत्मा को नियम में लाकर उत्तम व्रत संपन्न होय वह चार प्रकार के आहार का त्याग कर जीवन पर्यन्त भावना और अनुप्रेक्षा (चिन्तन) में तत्पर रहकर स्मरण और समाधि में बहुधा परायण होकर मरण समय की संलेषणा (अनशन) को सेवने वाला मोक्षमार्ग का आराधक होता है

(१८) शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।

शंका (सिद्धान्त की बातें में शंका), आकांक्षा (परमत की इच्छा, इस लोक परलोक के विषय की इच्छा), विचिकित्सा (धर्म के फल की शंका रखनी– साधु साध्वी के मैले वस्त्र देखकर दुगंछा—करनी, ये भी है, ये भी है—ऐसा मति का भ्रम), अन्य-दृष्टि (क्रिया-अक्रिया-विनय और अज्ञान मत वाले) की प्रशंसा करनी और अन्यदृष्टि का परिचय करना (कपट से या सरल पणे से होते या न होते गुणों का कहना वे संस्तव), ये सम्यग् दृष्टि के अतिचार हैं ।

(१९) व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।

अहिंसादि पांच अणुव्रत और दिग् व्रतादि सात शील में अनु-क्रम से (आगे कहूँगा उस मुजब) पांच पांच अतिचार होते हैं ।

(२०) बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।

बन्ध (बांधना), वध (मारना) छविच्छेद (नाक कान वींधने, डाम देना वगेरा), अतिभारारोपण (हद से ज्यादा बोझ

भरना) और अन्न पान निरोध (खाने पीने का विछोह पाडना); ये पाँच अहिंसा व्रत के अतिचार हैं ।

(२१) मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।

मिथ्या उपदेश (जूठी सलाह) । रहस्याभ्याख्यान (स्त्री पुरुष के गुप्त भेद प्रगट करने) कूटलेखक्रिया (खोटे दस्तावेज करने) । न्यासापहार (थापण ओलवनी) और साकार मंत्र भेद (चाडी-चुगली करनी, गुप्त बात कह देनी); ये दूसरे व्रत के अतिचार हैं ।

(२२) स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।

स्तेन प्रयोग (चोर को मदद देनी उसके काम को उत्तेजना देनी) तदाहृतादान (उसकी लाई हुई चीज थोड़ी कीमत में खरीदनी) विरुद्धराज्यातिक्रम (राज्य विरुद्ध काम करना-राजा के मना किये हुवे देश में जाना) हीनाधिक मानोन्मान (तोल माप में कमती-ज्यादा देना लेना) और प्रतिरूपक व्यवहार (अच्छी-बुरी वस्तु का भेल मेल करना) ये अस्तेय व्रत के अतिचार हैं ।

(२३) परविवाहकरणेत्वरपरिगृहितापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः ।

पर-विवाहकरण (दूसरों के विवाह कराने), इत्वरपरिगृहितागमन (थोड़े काल के लिये किसी को स्त्री करके रक्खी हुई स्त्री के साथ संग करना), अपरिगृहितागमन (वगैर परणी—वैश्या वगैरा स्त्री के साथ संग करना) अनंग क्रीडा (नियम विरुद्ध अंगों से क्रीडा करनी) और तीव्र कामाभिनिवेश (काम से अत्यन्त विह्वल होना), ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार हैं ।

(२४) क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।

१ क्षेत्र, वास्तु, २ हिरण्य-सुवर्ण, ३ धन-धान्य, ४ दास-दासी और ५ कुप्य (तांबे पीतल के आदि धातु के बर्तन वगेरा) के परिमाण (अंदाज) का अतिक्रमण करना, ये पांच अतिचार परिग्रह परिमाण व्रत के जानने।

(२५) ऊर्ध्वाधिस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिविस्मृत्यन्तर्धानानि ।

ऊर्ध्वदिग व्यतिक्रम (नियम उपरान्त ऊपर जाना) तिर्यग्दिग् व्यतिक्रम, अधोदिग् व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि (एक बाजू घटाकर दूसरी बाजू बढ़ाना) और स्मृत्यंतर्धान (याददास्त को भूलने से नियम उपरान्त की दिशा में जाना) ये पांच दिग् विरमण व्रत के अतिचार है।

(२६) आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।

आनयन प्रयोग (नियमित भूमी के बाहिर से इच्छित-वस्तु मंगवानी), प्रेष्य प्रयोग (भेजनी) शब्दानुपात (शब्द से बुलाना) रूपानुपात (अपना रूप दिखाकर बुलाना), और पुद्गल प्रक्षेप (मिट्टी पत्थर वगेरा पुद्गल फ़ककर बुलाना), इस तरह देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार जानने।

(२७) कन्दर्पकौकुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ।

कन्दर्प (राग युक्त असभ्य—खराब वचन बोलना, हंसी करनी) कौकुच्य (दुष्ट काय प्रचार के साथ रागयुक्त असभ्यभाषण और हसी करनी) मुखरता (असंबद्ध—हद बिना का बोलना), असमीक्ष्याधिकरण (बिना विचारे अधिकरण—इकट्ठ करना) और

उपभोगाधिकत्व (उपभोग में जरूरत हो उससे ज्यादा वस्तुयें इकट्ठी करनी), ये पांच अनर्थदंड विरमण व्रत के अतिचार हैं।

(२८) योगदुष्प्रणिधानाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ।

काय दुष्प्रणिधान (अजयणा से–असावधानी से प्रवृत्ति), वाग् दुष्प्रणिधान (असावधानी से बोलना), मनो दुष्प्रणिधान अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन (सामायिक नहीं ली, दो घड़ी पहले पारी, पारी नहीं आदि विस्मरणपणा), ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

(२९) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ।

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग (अच्छी तरह नही देखी हुई, और प्रमार्जन नहीं की हुई भूमि में लघु नीति बड़ी नीति करनी), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में संथारा करना, व्रत में अनादर करना, और स्मृत्यनुपस्थापन (भूल जाना), ये पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार हैं।

(३०) सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ।

सचित्त आहार, सचित्त वस्तु के सम्बन्ध वाला आहार, सचित्त वस्तु से मिश्रित आहार, तुच्छाहार, कच्चा पक्का सचित्त आहार ये पांच उपभोग–परिभोग विरमण व्रत के अतिचार हैं।

(३१) सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।

सचित्त निक्षेप (प्रासुक आहारादि सचित्त वस्तु पर रखना), सचित्तपिधान (प्रासुक आहारादि को सचित्त वस्तु से ढ़क देना) परव्यपदेश करना (न देने के लिये अपनी वस्तु दूसरे की है

ऐसा कहना), मात्सर्य (अभिमान लाकर दान देना), कालातिक्रम (भोजन काल गये बाद निमन्त्रण करना), ये पांच अतिचार अतिथि संविभाग व्रत के हैं ।

(३२) जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदान – करणानि ।

जीविताशसा (जीने की इच्छा) मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान करण (नियाणां बांधना) ये पांच संलेषणा के अतिचार जानना ।

(३३) अनुग्रहार्थं स्वस्याऽतिसर्गो दानम् ।

उपकार बुद्धि से अपनी वस्तु को त्याग करना यानी दूसरे को देनी वह दान कहलाता है ।

(३४) विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।

विधि (कल्पनीयता वगेरा), द्रव्य, दातार और पात्र की विशेषता से करके उस दान की विशेषता होती है, यानी फलकी तारतम्यता होती है ।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

(१) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।

मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग वे कर्म बन्ध के हेतु हैं।

सम्यग् दर्शन से विपरीत वह मिथ्या दर्शन, वह अभिगृहीत (जानते हुवे हठ कदाग्रह से अपने मतव्य में लगा रहे वे ३६३ पाखंडी के मत) और अनभिगृहीत,इस तरह दो प्रकार का मिथ्यात्व है। विरति से विपरीत वह अविरति। याददास्त का अनवस्थान, अथवा मोक्ष के अनुष्ठान में अनादर और मन, वचन काया के योग का दुष्प्रणिधान वह प्रमाद क्रोधादि कषाय, मन, वचन और काया का व्यापार रूप योग, इन मिथ्यादर्शनादि बन्धहेतुओं में के प्रथम के होते हुवे पिछले का निश्चय होना और उत्तरोत्तर-उल्टा पिछले के होते हुवे पहले के की भजना (अनियम) जाननी।

(२) सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ।

कषायवाला होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है।

(३) स बन्धः ।

जीव से पुद्गलों का जो ग्रहण वह बन्ध है।

(४) प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ।

प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, रस बन्ध और प्रदेश बन्ध ये चार भेद बन्ध के हैं।

(५) आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।

पहला प्रकृति बन्ध – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ प्रकार के हैं।

(६) पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।

उन आठ प्रकार के प्रकृति बन्ध के एक-एक करके अनुक्रम से पांच, नव, दो, अठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच भेद होते हैं

(७) मत्यादीनाम् ।

मतिज्ञान आदि पांच होने से उनके आवरण भी मतिज्ञानावरणीय वगेरा पांच भेद के हैं।

(८) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च ।

चक्षु दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, जिसके उदय से निद्रावस्था मे से सुख से प्रतिबोध (जागना) हो वह निद्रा, जिसके उदय से निद्रावस्था में से दुःख से जाग्रत अवस्था की प्राप्ती हो वह निद्रानिद्रा, जिसके उदय से खडे और बैठे हुवे निद्रा आवे वह प्रचला. जिसके उदय से चलते चलते निद्रा आवे वह प्रचलाप्रचला और जिसके उदय से दिन में धारा हुवा कार्य रात को निद्रावस्था में जगे हुवे की तरह करे वह स्त्यानगृद्धि (थीणद्धि), इस निद्रा के वक्त वज्रऋषभनाराच संघयण वाले को वासुदेव के बल से आधा बल होता है। ये जीव नरक गामी जानना, दूसरे संघयणवाले को इस निद्रा में खुद के मामूली बल से दूणा तीन गुणा बल होता है। ये नौ दर्शनावरणीय के भेद हैं।

(९) सदसद्वेद्ये ।

वेदनीयकर्म—साता और असाता वेदनीय इस तरह दो प्रकार के हैं।

(१०) दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनो-कषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। ※

मोहनीय के–१ दर्शन मोहनीय तथा २ चारित्र मोहनीय ये दो भेद हैं. उस दर्शन मोहनीय के – १ सम्यक्त्वमोहनीय २ मिथ्यात्वमोहनीय और ३ मिश्रमोहनीय ये तीन भेद हैं।

चारित्र मोहनीय के १ कषायवेदनीय और २ नोकषायवेदनीय ये दो भेद हैं, उस कषाय वेदनीय के–१ अनन्तानुबंधी २ अप्रत्याख्यानी, ३ प्रत्याख्यानी और ४ संज्वलन ये चार भेद हैं, फिर उन चारों में से एक एक के क्रोध, मान, माया और लोभ, इस तरह चार चार भेद होने से १६ भेद होते हैं। और नो कषायमोहनीय–१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ दुगंछा ७ स्त्रिवेद, ८ पुरुषवेद, ६ नपुंसक वेद इस तरह नौ भेद हैं।

सोला १६ कषाय ६ नोकषाय और तीन दर्शन मोहनीय ये २८ भेद मोहनीय कर्म के हैं।

(११) नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।

※ इस आठ में तथा दस में सूत्र की विशेष समझ पहले कर्म-ग्रन्थ से प्राप्त कर लेनी।

नारक सम्बंधी, तीर्यंच सम्बंधी, मनुष्य सम्बंधी और देवता सम्बंधी, इस तरह चार प्रकार के आयुष्य कर्म है।

(१२) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभ सूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च।

१ गति, २ जाति, ३ शरीर, ४ अंगोपांग, ५ निर्माण, ६ बन्धन, ७ संघात, ८ संस्थान, ९ संहनन (संघयण), १० स्पर्श, ११ रस, १२ गन्ध, १३ वर्ण, १४ आनुपूर्वी, १५ अगुरुलघु, १६ उपघात, १७ पराघात, १८ आतप, १९ उद्योत, २० उच्छ्वास, २१ विहायोगति २२ प्रत्येक शरीर, २३ त्रस, २४ सौभाग्य, २५ सुस्वर, २६ शुभ, २७ सूक्ष्म, २८ पर्याप्त, २९ स्थिर, ३० आदेय, ३१ यश, प्रतिपक्षी के साथ यानी, ३२ साधारण, ३३ स्थावर, ३४ दुर्भग, ३५ दुःस्वर, ३६ अशुभ, ३७ बादर, ३८ अपर्याप्त, ३९ अस्थिर, ४० अनादेय, ४१ अयश, ४२ और तीर्थंकरत्व ये ४२ भेद नाम कर्म के जानने, और उत्तर नाम तो अनेक प्रकार के हैं।

(१३) उच्चैर्नीचैश्च।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्र कर्म के हैं।

(१४) दानादीनाम्।

दानादि के विघ्न करता वह अन्तराय है १-दानान्तराय, २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय इस तरह उसके पांच भेद होते हैं।

(१५) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-कोट्यः परा स्थितिः।

पहले के तीन कर्म यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय की अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

(१६) सप्ततिर्मोहनीयस्य ।

मोहनीय कर्म की ७० कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

(१७) नामगोत्रयोर्विंशतिः ।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की वीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

(१८) त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य ।

आयुष्क कर्म की ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति जानना।

(१९) अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ।

वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारा मुहूर्त की है. कोईक आचार्य एक मुहूर्त की कहते हैं।

(२०) नामगोत्रयोरष्टौ ।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

(२१) शेषाणामन्तमुर्हूर्त्तम् ।

दूसरे कर्मों की यानी-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयुष्क और अन्तराय कर्म की अन्तमुर्हूर्त की जघन्य स्थिति जानना।

(२२) विपाकोऽनुभावः ।

कर्म के विपाक को अनुभाव (रस पणे भुगतना) कहते हैं.

सब प्रकृतीयों का फल यानी विपाकोदय वह अनुभाव है. विविध प्रकार से भुगतना वह विपाक है, कर्म विपाक को भुगतता

हुवा जीव मूलप्रकृति से अभिन्न उत्तर प्रकृति में कर्म निमित्तक अनाभोग (अनुपयोग) वीर्य पूर्वक कर्म का संक्रमण करता है, बन्धविपाक के निमित्त से अन्य जाति होने से मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता, उत्तर प्रकृतियों में भी दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और आयुष्क नाम कर्म का जात्यन्तर, अनुबन्ध, विपाक और निमित्त से अन्य जाति होने से सक्रमण नहीं होता, अपवर्तन (कम होना) तो सब प्रकृतियों का होता है ।

(२३) स यथा नाम

वह अनुभाव गति जाति आदि के नाम मुजब भोगने में आती है ।

(२४) ततश्च निर्जरा ।

विपाक से निर्जरा होती है ।

यहाँ सूत्र में "च" शब्द रक्खा है, वह दूसरे हेतु की अपेक्षा बतलाता है यानी—अनुभाव से और अन्य प्रकार से (तपसे) निर्जरा होती है ।

(२५) नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।

नाम कर्म के सबब से सब आत्म प्रदेशों से मन आदि के व्यापार से सूक्ष्म उसी आकाश प्रदेश को अवगाह कर रहे हुवे, स्थिर रहे हुवे, अनन्तानन्त प्रदेश वाले कर्म पुद्गल सब तरफ से बंधाते हैं ।

नाम प्रत्ययिक—नाम कर्म के सबब से पुद्गल बंधाते हैं. किस दिशा से बंधते हैं ? ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक सब दिशाओं

से आये हुवे पुद्गल बंधाते हैं, किससे बंधाते हैं ? मन, वचन, काया के व्यापार विशेष से बंधाते हैं, कैसे ? सूक्ष्म बंधाते हैं बादर नहीं बंधाते. फिर एक क्षेत्र में अवगाह कर स्थिर रहे हुवे हों वह बंधाते हैं, आत्मा के कौन से प्रदेश से बंधाते हैं ? आत्मा के सब प्रदेशों में सब कर्मप्रकृति के पुद्गल बंधाते हैं, कैसे पुद्गल बंधाते हैं ? अनन्तानंत प्रदेशात्मक कर्म के पुद्गल हों वहीं बंधाते हैं. संख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेश के पुद्गल नही बंधाते।

(२६) सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।

सात वेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभआयुष्य (देव, मनुष्य,) शुभ नाम कर्म प्रकृतियें और शुभ गोत्र यानी उच्च गोत्र वह पुण्य हैं। उससे विपरीत कर्म वह पाप हैं।

इत्यष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

(१) आश्रवनिरोधः संवरः ।

आश्रव का निरोध करना वह संवर जानना.

(२) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।

वह संवर गुप्ति, समिति, यतिधर्म, अनुप्रेक्षा, (भावना) परिसह-जय तथा चारित्र से होता हैं।

(३) तपसा निर्जरा च ।

१२ प्रकार के तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।

(४) सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।

सम्यग् प्रकार से मन, वचन, और काया के योग का निग्रह करना वह गुप्ति कहलाती हैं।

सम्यग् यानी भेद पूर्वक समझ कर सम्यग् दर्शन पूर्वक आदरना, शयन, आसन, आदान, (ग्रहण करना) निक्षेप (रखना) और स्थान चंक्रमण (एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना) में काय चेष्टा का नियम (इस प्रकार से करना और इस प्रकार से न करना ऐसी काय व्यापार की व्यवस्था) वह काय गुप्ति, याचन (मांगना) प्रश्न और पूछे हुवे का उत्तर देना, उन विषय में वचन का नियम (जरूर जितना बोलना अथवा मौन धारण करना) वह वचन गुप्ति, सावद्य संकल्प का निरोध तथा कुशल (शुभ – मोक्षमार्ग के अनुकूल) संकल्प करना अथवा शुभाऽशुभ संकल्प का सर्वथा निरोध वह मनो गुप्ति।

(५) ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।

ईर्यासमिति, (देखकर चलना), भाषा समिति, (हितकारक, परिमित–(अल्पवचन असंदिग्ध, निरवद्य और सही अर्थ वाला भाषण), एषणा (शुद्ध आहारादि की गवेषणा) समिति और उत्सर्ग समिति (पारिष्ठापनिका समिती) ये पांच समिती है।

(६) उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।

१ क्षमा, २ नम्रता, ३ सरलता, ४ शौच, ५ सत्य, ६ संयम ७ तप, ८ निर्लोभता, ९ निष्परिग्रहता और १० ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार यति धर्म उत्तम हैं।

योग का निग्रह (वश) वह संयम सतरा प्रकार का है (१) पृथ्वीकाय संयम, (२) अपकाय संयम, (३) ते काय संजम (४)

वाउकाय संयम, (५) वनस्पतिकाय संजम, (६) बेइन्द्रिय संयम, (७) तेइन्द्रिय संयम (८) चौरिन्द्रिय संयम (९) पंचेन्द्रिय संयम (१०) प्रेक्ष्य (देखना) संयम (११) उपेक्ष्य संयम, (१२) अपहृत्य (परठवना) संयम, १३ प्रमृज्य (पूंजना) संयम, १४ काय सयम, (१५) वचन संयम (१६) मन संयम (१७) और उपकरण संयम, व्रत की परिपालना, ज्ञान की अभिवृद्धि और कषाय की उपशान्ति के लिये गुरुकुल वास वह ब्रह्मचर्य यानी गुरु की आज्ञा के आधीन रहना वह ब्रह्मचर्य, मैथुनत्याग, महाव्रत की भावना और इच्छित स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, तथा विभूषा में अप्रसन्नता ये ब्रह्मचर्य के विशेष गुण है।

(७) अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व, अशुचित्त्व, (७) आश्रव (८) संवर (९) निर्जरा, (१०) लोक स्वरूप, (११) बोधि दुर्लभ और १२ धर्म में बयान किये हुवे तत्त्वों का अनुचिन्तन (मनन–निदिध्यासन) ये बारा प्रकार की अनुप्रेक्षा है।

अनित्य भावना—इस संसार में शरीर, धन, धान्य, कुटुम्ब आदि सब वस्तुयें अनित्य (क्षण भंगुर हैं) ऐसा चिन्तवना वह.

अशरण भावना—मनुष्य बिना के जंगल में भूखे बलवान सिंह के हाथ में पकडाये हुवे हिरन को किसी का शरण नहीं होता इसी तरह जन्म, मरणाऽदि व्याधियों से पकडाये हुवे जीव को इस संसार में धर्म सिवाय दूसरे किसी का शरण नहीं ऐसा सोचना वह.

संसार भावना—इस अनादि अनन्त संसार में स्वजन और परजन की कोई भी प्रकार की व्यवस्था नहीं है, माता मरकर स्त्री

होती है स्त्री मरकर माता होती है, पिता मरकर पुत्र होता है, पुत्र मरकर पिता होता है इस तरह संसार की विचित्रता की भावना करनी वह।

एकत्व भावना—जीव अकेला ही उत्पन्न हुवा है और अकेला ही मृत्यु पाता है; अकेला ही कर्म बांधता है और अकेला ही कर्म भुगतता है इत्यादि सोचना वह।

अन्यत्व भावना— मैं शरीर से भिन्न हूँ; शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, शरीर जड है, मैं चेतन हूँ, इस तरह सोचना वह।

अशुचि भावना—निश्चय करके यह शरीर अपवित्र है, क्योंकि इस शरीर का आदि कारण शुक्र-लोही है, जो बहुत अपवित्र है, पीछे के कारण आहारादिक का परिणाम वह भी अत्यन्त अपवित्र है, नगर के खाल की तरह पुरुष के नव द्वार में से और स्त्री के बारा द्वार में से निरन्तर अशुचि बहा करती है ऐसा विचारना वह।

आश्रव भावना—मिथ्यात्वादि से कर्म का आना होता है, इससे आत्मा मलीन होती है दया दानादि से शुभ कर्म बंधाते है। विषय कषायादि से अशुभ कर्म बन्धाते हैं ऐसा विचारना वह।

संवर भावना—समिति-गुप्ति आदि पालने से आश्रव का रोध (रुकना होता है) ऐसा विचारना वह।

निर्जरा भावना—बारा प्रकार के तप से कर्म का क्षय होता है। ऐसा विचारना वह।

लोकस्वभाव भावना—कमर पर हाथ देकर पैर फैला कर खड़े हुवे पुरुष के आकार से धर्मास्तिकायादि द्रव्यात्मक चौदह राज-लोक, उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्वभाव वाला है, इत्यादि स्वरूप विचारना वह।

बोधि दुर्लभ भावना—इस अनादि संसार में नरकादि गति में भ्रमण करते अकाम निर्जरा से पुण्य के उदय से मनुष्य जन्म,

आर्य देश, उत्तम कुल, निरोगी काया, धर्मश्रवण की सामग्री इत्यादि पाई जा सकती है। लेकिन अनन्तानुबन्धी कषाय मोहनीय के उदय से अभिभूत (पराभूत) जीव को सम्यग् दर्शन पाना बहुत मुशकिल ऐसा विचारना वह।

धर्म स्वाख्यातत्व भावना—दुस्तर संसार समुद्र में से तेरने को वहाण समान श्री वीतराग प्रणीत शुद्ध धर्म पाना बहुत मुश्किल है। ऐसा विचारना वह।

(८) मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः।

सम्यग् दर्शनादि मोक्ष मार्ग में स्थिर रहने के लिये और निर्जरा के लिये परीसह सहन करने योग्य है।

(९) क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्या-शय्याऽऽक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कार-पुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानदर्शनानि।

(दर्शन और प्रज्ञा ये दो मार्ग में स्थिर रहने के लिए और बाकी के २० निर्जरा के लिये जानना—समयसार प्रकरण में)

१ क्षुधा (भूख) परिसह, २ पिपासा (तृषा) परीसह, ३ शीत (ठंड)परिसह, ४ उष्ण (गरमी) परिसह, ५ दश मशक (डाँस मच्छर) परिसह, ६ नाग्न्य (जूने मैले कपडे) परिसह, ७ अरति—संयम में उद्वेग न हो परिसह, ८ स्त्री परिसह, ९ चर्या (विहार) परिसह, १० निषद्या (स्वाध्याय की भूमि) परिसह, ११ शय्या परिसह, १२ आक्रोश परिसह, १३ वध परिसह, १४ याचना परिसह, १५ अलाभ परिसह, १६ रोग परिसह, १७ तृण स्पर्श परिसह, १८ मल परिसह, १९ सत्कार परिसह, २० प्रज्ञा परिसह, २१ अज्ञान परिसह और २२ मिथ्यात्व परिसह ये बाईस प्रकार के परीसह जानने।

(१०) सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।

सूक्ष्म संपराय चारित्र वाले को और छद्मस्थ वीतराग चारित्र वाले को चवदा परिसह होते हैं ।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये चवदह होते हैं ।

(११) एकादश जिने ।

तेरमे गुणठाणे जिन-केवली को ग्यारा परिसह होते हैं, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये अग्यारा ।

(१२) बादरसंपराये सर्व्वे ।

बादर संपराय चारित्र में (नव में गुण ठाणे तक) सब यानी बाईस परिसह होते हैं ।

(१३) ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।

ज्ञानावरण के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परिसह होते हैं.

(१४) दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।

दर्शनमोहावरण और अन्तराय कर्म के उदय से अदर्शन (मिथ्यात्व) और अलाभ परिसह अनुक्रम से होते हैं ।

(१५) चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याऽऽक्रोशयाचना सत्कार-पुरस्काराः ।

चारित्र मोह के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये सात परिसह होते हैं ।

(१६) वेदनीये शेषाः ।

वेदनीय के उदय से बाकी के अग्यारा परिसह होते हैं. जिन-केवली को जो अग्यारा होते हैं वे यहाँ जानना.

यानी ज्ञानावरण, दर्शनमोह, अन्तराय और मोह के उदय से ११ परिसह होते हैं, उन सिवाय ११ वेदनीय के उदय से होते हैं।

(१७) एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ।

इन बाईस परिसह में से १ से लगाकर १९ तक एक साथ एक पुरुष को हो सकते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण में से एक होता है, और चर्या, निषद्या तथा शय्या, इन तीन में से एक हो सकता है, क्योंकि एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिये एक साथ १९ परिसह होते हैं ।

(१८) सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम् ।

सामायिक संयम, २ छेदोपस्थाप्य संयम, ३ परिहारविशुद्धि संयम, ४ सूक्ष्मसंपराय संयम और ५ यथाख्यात संयम ये चारित्र के भेद हैं ।

सम यानी सरीखा है, मोक्ष साधन में सामर्थ्य जिन का ऐसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का आय यानी लाभ है जिसमें वह अथवा सम यानी मध्यस्थ भाव (राग द्वेष रहित पणा) का लाभ जिसमें होता है वह सामायिक चारित्र.

पहले के सदोष या निर्दोष पर्याय को छेदकर गणाधिपों का फिर से दिया हुवा पंच महाव्रत रूप चारित्र वह छेदोपस्थाप्य चारित्र ।

परिहार नाम के तप की ज्यादा शुद्धि जिसमें है वह परिहार विशुद्ध चारित्र, वह इस माफिक—नव साधुओं का गच्छ निकले उन में से चार जणे तपस्या करें, चार जणे वैयावच्च करें और एक

को आचार्य स्थापे; इस तरह छ महिने तक तपस्या करे, फिर वैयावच्च करने वाले तपस्या करें और तपस्या करने वाले वैयावच्च करें, वे भी पूर्वोक्त रीति से छ मास करें, फिर आचार्य छ मास तक तपस्या करें, सात जणे वैयावच्च करें और एक को आचार्य स्थापें, इस प्रकार १८ मास तक तप करें।

जहाँ सूक्ष्म कषाय का उदय हो वह सूक्ष्म संपराय चारित्र यह चारित्र दस में गुणस्थान में वर्तते जीवों को होता है।

जहाँ सर्वथा कषाय का अभाव होता है वह यथाख्यात चारित्र, उसके दो प्रकार हैं—छाद्मस्थिक और कैवलिक, छाद्मस्थिक के दो प्रकार क्षायिक और औपशमिक क्षायिक १२ वें गुणठाणे और औपशमिक ११ में गुणठाणे होय, केवलिक दो प्रकार—सयोगी और अयोगी, सयोगी तेरमें और अयोगी चवदह में गुणठाणे होता है।

इन पाँचमें के पहले के दो चारित्र हाल में विद्यमान हैं पिछले तीन विच्छेद हुवे हैं।

(१९) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

अनशन (आहार का त्याग) अवमौदर्य (उणोदरी-दो चार कवे कम रहना), वृत्तिपरिसंख्यान (आजीविका का नियम) भोज्य उपभोग्य पदार्थों की गिनति रखनी), रस परित्याग (छ विगय का त्याग—लोलुपता का त्याग) विविक्त शय्यासनता (अन्य संसर्ग बिना की शय्या और आसन) और काय क्लेश (लोच, आतापना आदि कष्ट) ये छ प्रकार के बाह्य तप जानने।

(२०) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)

और ध्यान (धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान) ये अभ्यन्तर तप के छ भेद हैं।

(२१) नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदे प्राग्ध्यानात्।

इन अभ्यन्तर तप के अनुक्रम से नव, चार, दश, पाँच, और दो भेद ध्यान की अगाउ (प्रायश्चित्तादिक) के हैं।

(२२) आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि।

आलोयण (गुरु के सामने भूल जाहिर करना) पडिक्कमण (मिच्छामि-दुक्कड) उन तदुभय-मिश्र उन दोनों के साथ करना, विवेक (अशुद्ध खान पान का त्याग परिठवण), कायोत्सर्ग, तप, चारित्र पर्याय छेद, परिहार (त्याग-गच्छ बाहिर), और उपस्थापन (फिर चारित्र देना), ये नव भेद (प्रायश्चित्त के हैं।

(२३) ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, का विनय और उपचार (ज्ञान, दर्शन, और चारित्र से अपने से अधिक गुणवाले का उचित विनय करना), इस तरह विनय चार प्रकार का है।

(२४) आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम्।

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) तपस्वी (४) नवीन दीक्षित, (५) ग्लान (रोगी) ६ गण (स्थविर की संतति-जूदा जूदा आचार्य के शिष्य होने पर भी एक आचार्य के पास वाचना लेता हो, ऐसे समुदाय, ७ कुल (एक आचार्य की संतति), ८ संघ, ९ साधु और १० मनोज्ञ चारित्र को पालने वाले मुनि, इन दश का वैयावच्च अन्नपान, आसन, शयन इत्यादि देने से करना।

(२५) वाचनाप्रच्छनाऽनुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ।

(१) वाचना (पाठ लेना) (२) पृच्छना (पूछना), (३) अनुप्रेक्षा (मूल तथा अर्थ का मन से अभ्यास करना), (४) आम्नाय (परावर्तना पढाया हुवा संभालना) और ५ धर्मोपदेश करना ये पाँच प्रकार का स्वाध्याय जानना।

(२६) बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।

व्युत्सर्ग दो प्रकार का है– बाह्य और अभ्यन्तर, बाह्य व्युत्सर्ग बारा प्रकार की उपधि का जानना, और अभ्यन्तर व्युत्सर्ग शरीर और कषाय का जानना।

(२७) उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।

उत्तम संहनन (वज्रर्षभनाराच ऋषभनाराच; नाराच और अर्ध-नाराच ये चार संघयण) वाले, जीवों को एकाग्रपणे चिन्ता का रोध वह ध्यान जानना।

[२८] आ मुहूर्त्तात् ।

वह ध्यान एक मुहूर्त तक रहता है।

[२९] आर्त्तरौद्रधर्म्मशुक्लानि ।

आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान इस तरह ध्यान चार प्रकार के हैं।

[३०] परे मोक्षहेतू ।

पिछले दो ध्यान (धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान) ये मोक्ष के हेतु हैं।

[३१] आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसम-न्वाहारः ।

अनिष्ट वस्तुओं का योग होने पर उन अनिष्ट वस्तुओं का वियोग करने के लिये स्मृति समन्वाहार (चिन्ता) करना वह आर्त-ध्यान जानना।

[३२] वेदनायाश्च ।

वेदना प्राप्त होने पर वह दूर करने के लिये चिन्ता करनी वह आर्त ध्यान है।

[३३] विपरीतं मनोज्ञानाम् ।

मनोज्ञ विषय-वेदना का विपरीत ध्यान समझना यानी मनोज्ञ-प्रिय विषय और प्रिय वेदना का वियोग होने पर उस की प्राप्ति के लिये चिन्ता करनी वह आर्त्त ध्यान जानना ।

[३४] निदानं च ।

काम से उपहत है चित्त जिनका ऐसे जीव पुनर्जन्म में वैसे विषय मिलाने के लिये 'जो नियाणा करे' वह आर्त्त ध्यान है।

[३५] तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।

वह आर्तध्यान, अविरत, देश विरत और प्रमत्त संयतों को होता है (मार्ग प्राप्ति पीछे की अपेक्षा से यह बात समझनी)।

[३६] हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः ।

हिंसा, अनृत (असत्य), चोरी के लिये और विषय (पदार्थ) की रक्षा के लिये संकल्प विकल्प करना वह रौद्र ध्यान जानना, वह अविरत और देशविरत को होता है ।

[३७] आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्ममप्रमत्तसंय-तस्य ।

१ आज्ञा विचय (जिनाज्ञा का विचार) २ अपाय विचय (सन्मार्ग से पडने से होने वाली पीडा का विचार) ३ विपाक विचय (कर्म फल के अनुभव का विचार), ४ और संस्थान विचय (लोक की आकृति का विचार), के लिये जो विचारणा वह धर्म ध्यान कहलाता है; वह अप्रमत्त संयत को होता है।

[३८] उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ।

उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणठाणे वाले को धर्म ध्यान होता है।

[३९] शुक्ले चाद्ये ।

शुक्ल ध्यान के दो पहले भेद-उपशान्तकषायी और क्षीणकषायी को होते हैं।

[४०] परे केवलिनः ।

शुक्ल ध्यान के पिछले दो भेद केवली को ही होते हैं।

[४१] पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवृत्तीनि ।

१ पृथक्त्ववितर्क, २ एकत्व वितर्क, ३ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति और ४ व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति, ये चार प्रकार के शुक्ल ध्यान जानना.

[४२] तत्त्र्येककाययोगायोगानाम् ।

वह शुक्ल ध्यान तीन योग वाले को, तीन में से एक योग वाले को, काययोगवाले को और अयोगी को होता है, यानी तीन योगवाले को पृथक्त्ववितर्क, तीन में से एक योग वाले को एकत्ववितर्क, केवल काययोगवाले को सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति और अयोगी को व्युपरतक्रिया अनिवृत्ति नाम का ध्यान होता है।

(४३) एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ।

पहले के दो शुक्ल ध्यान एक द्रव्याश्रयी वितर्क सहित होता है, (प्रथम पृथकत्ववितर्क विचार सहित है।)

[४४] अविचारं द्वितीयम् ।

विचार रहित और वितर्कसहित दूसरा शुक्ल ध्यान होता है।

[४५] वितर्कः श्रुतम् ।

यथा योग्य श्रुत ज्ञान वह वितर्क जानना।

[४६] विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः ।

अर्थ, व्यञ्जन और योग का जो संक्रमण वह विचार। ये अभ्यन्तर तप संवर होने से नवीन कर्म संचय का निषेधक है, निर्जरा रूप फल देने का होने से कर्म की निर्जरा करने वाला है, और नये कर्म का प्रतिषेधक तथा पूर्वोपार्जित कर्म का नाशक होने से मोक्ष मार्ग को प्राप्त कराने वाला है।

[४७] सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ।

१ सम्यग् दृष्टी, २ श्रावक, ३ विरत (साधु), ४ अनन्तानुबंधी को नाश करने वाला, ५ दर्शन मोह क्षपक, ६ मोह को शमाता, ७ उपशान्त मोह, ८ मोह को क्षीण करता, ९ क्षीण मोह और १० केवली ये उतरोत्तर एक एक से असंख्य गुणे अधिक निर्जरा करने वाले हैं।

[४८] पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।

पुलाक (जिन कथित आगम से पतित न हो वह), बकुश (शरीर-उपकरण की शोभा करने वाला लेकिन निर्ग्रन्थ शासन पर प्रीति रखने वाला), कुशील (संयम पालने में प्रवृत्त लेकिन अपनी इन्द्रियें स्वाधीन नहीं रहने से उत्तर गुणों को पालन नहीं कर सकता और कारण मिलने पर जिनको कषाय उत्पन्न हो वह) निर्ग्रंथ (विचरते वीतराग छद्मस्थ), स्नातक (सयोगी केवली, शैलेशी प्रतिपन्न केवली), ये पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ होते हैं।

[४९] संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः।

ये पांच निर्ग्रन्थ, संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, वेष, लेश्या, उपपात और स्थान इन विकल्पों के साध्य-विचारने योग्य है यानी संयम, श्रुत, आदि बातों में कितने प्रकार के निर्ग्रन्थ लाभ (प्राप्त होवे) वह घटाना।

वह इस मुजिब— सामायिक और छेदोपस्थाप्य चारित्र में पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के साधु होते हैं. परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म संपराय चारित्र में कषाय कुशील होता है। यथाख्यात चारित्र में निर्ग्रन्थ स्नातक होता है। पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील, ये तीन प्रकार के साधु उत्कृष्टे से दस पूर्वधर होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रंथ चवदा पूर्वधर होते हैं पुलाक जघन्य से आचारवस्तु (नव में पूर्व के अमुक भाग) तक श्रुत जानते हैं। बकुश, कुशील, और निर्ग्रन्थों को जघन्य से आठ प्रवचन माता जितना श्रुत होय, स्नातक केवलज्ञानी श्रुत रहित होते हैं। (श्रुतज्ञान क्षयोपशम भाव से होते हैं केवली को वह भाव नहीं है लेकिन क्षायिक भाव है इसलिये श्रुतज्ञान केवली को नहीं होता।)

पाँच मूलगुण (पांच महाव्रत) और रात्रिभोजन विरमण इन छे में के किसी भी व्रत को दूसरे की प्रेरणा और आग्रह से दूषित करने वाला पुलाक होता है। कितनेक आचार्य कहते हैं कि सिर्फ मैथुन विरमण को पुलाक दूषित करते हैं. बकुश दो प्रकार के हैं (१) उपकरण में ममता रखने वाले यानी बहुत मूल्य वाले उपकरण इखट्ठे करके ज्यादा इकट्ठे करने की इच्छा हो वह उपकरण बकुश, और शरीर शोभा में जिनका मन तत्पर है ऐसा हमेशा विभूषा (शोभा) करने वाला शरीरबकुश कहलाता हैं। प्रतिसेवना कुशील हो वह मूलगुण को पाले और उत्तरगुण में कहीं कहीं विराधना करता है। कषाय-कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन तीन निर्ग्रन्थों को किसी जात का प्रतिसेवनादूषण नहीं होता।

सब तीर्थंकरों के तीर्थ में पाँचों प्रकार के साधु होते है। एक आचार्य मानते हैं कि- पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कुशील ये तीर्थ में नित्य होते हैं: बाकी के साधु तीर्थ की मौजूदगी में या तीर्थ मोजूद न हो तब होते हैं।

लिंग दो प्रकार के हैं द्रव्य (रजोहरण, मुहपत्ति वगेरा), और भाव (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) सब साधु भाव लिंग से जरूर होते हैं। द्रव्य लिंग से भजना जाननी (यानी होते हैं अथवा न भी होते हैं। मरुदेवी वगेरा की तरह थोड़े काल वाले को हो या न हो, और दीर्घ काल वाले को जरूर हो।

पुलाक को पिछली तीन लेश्या होती है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील को छ ही लेश्या होती है, परिहारविशुद्धिचारित्र वाले कषायकुशील को पिछली तीन लेश्या होती हैं, सूक्ष्मसंपराय वाले कषायकुशील को तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक को सिर्फ शुक्ल लेश्या होती है। अयोगी शैलेशी प्राप्त तो अलेशी होता है.

पुलाक उत्कृष्ट स्थिति वाला देवपणे सहस्रार देवलोक में उपजाता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागरोपम की स्थिती तक के देवपणे आरण अच्युत देवलोक में उपजता है। सब साधु जघन्य से पल्योपम पृथक्त्व के आयुवाले सौधर्म कल्प में उपजता हैं. कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्ध में उपजता है। स्नातक निर्वाण पद को पाते हैं।

अब स्थान आश्रयी कहते हैं— कषाय निमित्तक संयमस्थान असंख्याता है, उन में सब से जघन्य लब्धि स्थानक पुलाक और कषाय कुशील को होते हैं। वे दोनों एक साथ असंख्याता स्थान को लाभते हैं। (प्राप्त होते हैं) फिर पुलाक विच्छेद पाते हैं।

और कषाय कुशील असंख्याता स्थान को अकेला लाभता है। फिर कषायकुशील प्रतिसेवना कुशील और बकुश एक साथ में असंख्याता स्थानों को लाभता है फिर बकुश विच्छेद पाता है, फिर असंख्याता स्थानों पर जाने पर प्रतिसेवना कुशील विच्छेद पाता है, फिर असंख्यात स्थानों पर जाने पर कषायकुशील विच्छेद पाता है। यहाँ से ऊपर अकषाय स्थान है वहाँ निर्ग्रन्थ ही जाता है। वह भी असंख्याता स्थानों पर जाने पर विच्छेद पाता है इससे ऊपर एक ही स्थान पर जाकर निर्ग्रन्थ स्नातक निर्वाण पाता है। इसकी संयम लब्धि अनन्तानन्त गुणी होती है।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥

(१) मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।

मोहनीय का क्षय होने से और ज्ञान-दर्शनावरण के तथा अन्तराय के क्षय से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

इन चार प्रकृतियों का क्षय केवलज्ञान का हेतु है, सूत्र में मोह के क्षय से ऐसा अलग ग्रहण किया है वह क्रम दर्शाने के लिये जानना।

इससे यह बतलाया जाता है कि–मोहनीय कर्म प्रथम सर्वथा क्षय होवे उसके पीछे अन्तर्मुहूर्त्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन तीन कर्मों का एक साथ क्षय होय तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

(२) बन्धहेत्वभावनिर्ज़राभ्याम्।

मिथ्या दर्शन के कारण से होने वाले बन्ध के अभाव और बांधे हुए कर्म की निर्जरा से सम्यग् दर्शनादि की यहाँ तक के केवल ज्ञान की उत्पति होती है।

(३) कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।

सकल कर्म का क्षय वह मोक्ष कहलाता है।

(४) औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।

केवल (क्षायिक) सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व (ये क्षायिक भाव सिद्ध को निरन्तर होते हैं इस वास्ते) दर्शन सप्तक के क्षय होने से केवल सम्यक्त्व, ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान, दर्शनावरण के क्षय होने पर केवलदर्शन और समस्त कर्मों के क्षय होने पर सिद्धत्व प्राप्त होता है) सिवाय बाकी के औपशमिकादिभाव और भव्यत्व का अभाव होने से मोक्ष होता हैं।

[५] तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

उस (सकल कर्म का (क्षय) के पीछे जीव ऊँचे लोकान्ततक जाता है।

कर्म का क्षय होने पर देह वियोग, सिद्धयमान गति और लोकांत की प्राप्ति ये तीनों इस मुक्त जीव को एक समय एक साथ होते हैं। प्रयोग—(वीर्यान्तराय का क्षय अथवा क्षयोपशम जन्य चेष्टा रूप) परिणाम से अथवा स्वभाविक हुई गतिक्रिया विशेष के कार्य द्वारा उत्पत्ति काल, कार्यारम्भ और कारण का विनाश जिस तरह एक साथ होता है उसी तरह यहाँ भी समझना।

[६] पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद् गतिः।

पहले के प्रयोग से, असंगपणे से, बन्धछेद से और सिद्धात्मा की गति का स्वभाव वैसा होने से उन मुक्त जीवों की गति (गमन) होती है।

[७] क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारा अनुयोग द्वारों से सिद्ध का विचार करना। उसमें पूर्वभाव प्रज्ञापनीय और प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय इन दो नय की अपेक्षा से सिद्ध का विचार करने का है—अतीत काल के भाव को जणाने वाला पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय कहलाता है और वर्तमान भाव को जणानेवाला प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय कहलाता है।

(१) क्षेत्र—किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं? प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय के आश्रय से सिद्धक्षेत्र में सिद्ध होते हैं। पूर्वभाव

प्रज्ञापनीयनय की विवक्षा से जन्म की अपेक्षा से १५ कर्म-भूमी में उत्पन्न हों वह सिद्ध होता है और संहरण की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र में रहा हुआ सिद्धपद को पाता है। उनमें प्रमत्त संयत और देश विरत का संहरण होता है। साध्वी, वेदरहित, परिहार-विशुद्धि चारित्रवाला, पुलाक चारित्री, अप्रमत्त संयत, १४ पूर्वधर और आहारक शरीरी इन का संहरण नहीं होता, ऋजुसूत्र और शब्दादि तीन नय पूर्वभाव को जणाते हैं, और बाकी के नैगमादि तीन नय पूर्वभाव तथा वर्तमानभाव इन दोनों को जणाते हैं।

(२) काल-किस काल में सिद्ध होते हैं? यहाँ भी दो नय की अपेक्षा से विचार करना जरुरी है। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय-नय की विवक्षा से काल के अभाव में सिद्ध होते हैं (क्योंकि सिद्धि क्षेत्र में काल का अभाव हैं) पूर्वभाव प्रज्ञा-पनीयनय की विवक्षा से जन्म और संहरण की अपेक्षा से विचार करने का है। जन्म से सामान्य रीति से अवसर्पिणि और उत्सर्पिणी में या नो उत्सर्पिणी काल (महाविदेह क्षेत्र) में हैं और विशेष से अवसर्पिणी में सुषम-दुःषम आरा के संख्याता वर्ष बाकी रहे तब जन्मा हुआ सिद्धपद को पाता है, दुःषम-सुषमा नाम के चौथे आरे में उत्पन्न हो वह चौथे तथा दुषमा नाम के पाँचवें आरे में मोक्ष को जाता है। लेकिन पाँचवें आरे में जन्मा हुवा मोक्ष को नहीं जाता है। संहरण के आश्रय से सब काल में अवसर्पिणी उत्सपिणी और नो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में मोक्ष को जाता है।

(३) गति-प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीयनय की विवक्षा से सिद्धि-गति में सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय के दो प्रकार है, अनन्तर पश्चात् कृतगतिक=अन्यगतिके आंतरे रहित और एकान्तर पश्चात् कृतगतिक (एक मनुष्य गति के अन्तर वाला) अनन्तर पश्चात् कृतगतिक नय की विवक्षा से मनुष्य गति में उत्पन्न हुवे

वह मोक्ष जाता है एकान्तर पश्चात् कृतगतिक नय की अपेक्षा से सब गतियों से आया हुआ सिद्धपद को पाता है।

(४) लिंग—लिंग की अपेक्षा से अन्य विकल्प है। उसके तीन प्रकार हैं (१) द्रव्यलिंग (२) भावलिंग और (३) अलिंग. प्रत्युत्पन्न-भाव की अपेक्षा से लिंग रहित सिद्ध होता है। पूर्वभाव की अपेक्षा से भाव लिंगी (भाव चारित्री) स्वलिंग से (साधु वेष में) सिद्ध होता है। द्रव्यलिंग के तीन प्रकार हैं—स्वलिंग, अन्यलिंग और गृहिलिंग उसके आश्रयी भजना जाननी (यानी हो या नहीं) सब भाव लिंग को प्राप्त हों (करे) वे मोक्ष जाते हैं।

(५) तीर्थ-तीर्थंकर के तीर्थ में तीर्थंकर सिद्ध होते हैं—तीर्थंकर पणा अनुभव करके मोक्ष जाते हैं तो तीर्थंकर प्रत्येक बुद्धादि होकर सिद्ध होते हैं और तीर्थंकर साधु होकर सिद्ध होते हैं इस तरह तीर्थंकर के तीर्थ में भी पूर्वोक्त भेदभाव वाले सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र—प्रत्युत्पन्नभाव की अपेक्षा से नो चारित्री नो अचारित्री सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के दो भेद हैं (१) अनंतरपश्चातकृतिक और परंपरपश्चात् कृतिक अनंतरपश्चातकृतिक (जिसको किसही चारित्र का अंतर न हो एसा) नय की अपेक्षा से यथाख्यात चारित्री सिद्ध होता है। परंपरपश्चातकृतिक (अन्य चारित्र से सान्तर) नय के व्यंजित और अव्यंजित यह दो भेद हैं। अव्यंजित सामान्यतः संख्या मात्र से कहे हुवे और व्यंजित विशेष नाम द्वारा कहे हुए। अव्यंजित की अपेक्षा से तीन चारित्र-वाले, चार चारित्रवाले और पांच चारित्र वाले सिद्ध होते हैं। व्यंजित नय की अपेक्षा से सामायिक सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध होते हैं, अथवा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध होते हैं, अथवा छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात-

चारित्र वाले सिद्ध होते हैं, अथवा छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्रवाले सिद्ध होते हैं, सामायिक छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्रवाले सिद्ध होते हैं।

(७) प्रत्येक बुद्धबोधित–स्वयं बुद्ध के दो भेद हैं तीर्थंकर, प्रत्येक-बुद्धसिद्ध बुद्धबोधितसिद्ध के दो प्रकार परबोधक और मात्र खुद का हित करने वाला इस रीत से प्रत्येकबुद्ध सिद्ध के चार प्रकार हैं।

(८) ज्ञान–प्रत्युत्पन्नभाव नय की अपेक्षा से केवली सिद्ध होते हैं। पूर्वभावप्रज्ञापनीय के अनंतर पश्चात्कृतिक और परपर पश्चात्कृतिक यह दो प्रकार है. वह दोनों के व्यंजित और अव्यंजित ऐसे दो दो प्रकार है उसमें अव्यंजित में दो-तीन-चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं, और व्यंजित में मतिश्रुत से, मति-श्रुत-अवधि से, मति-श्रुत-मनः पर्याय से और मति-श्रुत–अवधि मनः पर्याय से सिद्ध होते हैं.

(९) अवगाहना–अवगाहना दो प्रकार की है, उत्कृष्ट और जघन्य. उत्कृष्ट–धनुषपृथक्त्व से अधिक पांचसो धनुष, और जघन्य-अंगुल पृथक्त्व से हीन सात हाथ. पूर्वभावप्रज्ञापनीय की भूत दृष्टि की अपेक्षा से और तीर्थंकर की अपेक्षा से यह अवगाहना में सिद्ध होता है. प्रत्युत्पन्नभाव की–वर्तमान दृष्टि की अपेक्षा से अवगाहना की दो तृतीयांश अवगाहना में सिद्ध होता है.

(१०) अंतर–अनंतर और सांतर ये दोनों प्रकार से सिद्ध होते हैं। अनंतर जघन्य दो समय से उत्कृष्ट आठ समय तक, और सांतर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः मास का होता है।

(११) संख्या–एक समय में जघन्य से एक और उत्कृष्ट से एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

(१२) अल्पबहुत्व-क्षेत्रादिक ग्यारह द्वार से कहा है वह इस तरह—

क्षेत्र—जन्म से कर्मभूमि में और संहरण से अकर्मभूमि से भी सिद्ध होते हैं. संहरण से सिद्ध थोडे है और जन्म से सिद्ध असंख्यात गुण है.

संहरण दो प्रकार का है-स्वयंकृत और परकृत।

स्वयंकृत-चारण विद्याधरों का संहरण-गमन.

परकृत-देव, चारण मुनि, और विद्याधरों ने किया हुआ.

कर्मभूमि-अकर्मभूमि-द्वीप-समुद्र - ऊर्ध्व-अधो-तिर्यग लोक क्षेत्रों के भेद हैं. उसमें सबसे थोडे ऊर्ध्व लोक में से, और उससे संख्यात गुण अधो लोक में से, और उससे संख्यातगुणा तिर्यगलोक में से सिद्ध होते हैं. सबसे थोडे समुद्र में से और उससे संख्यात गुणा द्वीप में से सिद्ध होते हैं, यह सामान्य से कहा. विशेष से इस तरह जानना. सबसे थोडे लवण समुद्र में से, उससे कालोदधि में से संख्यातगुणा और उससे जंबुद्वीप में से, संख्यातगुणा, उससे धातकीखंड में से संख्यात गुणा, उससे पुष्करार्ध द्वीप में से संख्यातगुणा मोक्ष में गये हुवे हैं।

काल-तीन प्रकार के है-अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, अने अनव-सर्पिणी उत्सर्पिणी। यहां सिद्ध के व्यंजित-अव्यञ्जित भेद से विचार करना. पूर्वभाव की अपेक्षा से सबसे थोडा उत्सर्पिणी सिद्ध, उससे विशेषाधिक अवसर्पिणी सिद्ध, और उससे अनवसर्पिणी-उत्सर्पिणि सिद्ध संख्यात गुण जानना. वर्तमानभाव की अपेक्षा से काला-भाव में सिद्ध होते हैं, यतः अल्प बहुत्व नहीं है.

गति-वर्तमान काल की अपेक्षा से सिद्धिगति में सिद्ध होते हैं, यतः अल्पबहुत्व नहिं है. अंतर बिना पूर्वभाव की अपेक्षा से केवल मनुष्यगति में से सिद्ध होते हैं। यतः अल्पबहुत्व नहीं है। अंतर बिना

पूर्वभाव की अपेक्षा की अपेक्षा से तिर्यंच गति में से मनुष्य गति में आकर मोक्ष में जानेवाले सबसे अल्प है. उससे मनुष्य में से मनुष्य होकर मोक्ष में जाने वाले संख्यात गुण है, उससे नरक गति में से आकर जाने वाले संख्यात गुणा हैं और उससे देवगति में से आकर जाने वाले संख्यात गुणा है।

लिंग— वर्तमानभाव की अपेक्षा से अवेदी सिद्ध होता है, यत: अल्पबहुत्व नहीं है. पूर्वभाव की अपेक्षा से नपुंसक लिंगी सिद्ध सबसे अल्प है। उससे स्त्रीलिंग सिद्ध संख्यातगुणा और उससे पुल्लिंग सिद्ध संख्यातगुणा है.

तीर्थ—तीर्थसिद्ध सबसे अल्प तीर्थंकर सिद्ध, उससे संख्यात गुण अजिन सिद्ध जानना। तीर्थ में सिद्ध थए हुए नपुंसक संख्या गुण, उससे स्त्री सख्यातगुण और उससे पुरुष संख्यात गुण.

चारित्र-वर्तमानभाव की अपेक्षा से सिद्ध नो चारित्री नो अचारित्री. यत: अल्पबहुत्व नहीं है. पूर्वभाव की अपेक्षा से सामान्यत:—पांचो चारित्रवाले सिद्ध सबसे अल्प, उससे चार चारित्र वाले संख्यात गुण, उससे तीन चारित्र वाले संख्यात गुण जानना. विशेषत:—सबसे अल्प सामायिक आदि पांच वाले, उससे सामायिक सिवाय चार वाले संख्यात गुण, उससे परिहार-विशुद्धि सिवाय चार वाले संख्यातगुण. उससे छेदोपस्थापनीय सिवाय चार वाले संख्यातगुण. उससे सामायिक-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात ये तीन चारित्रवाले सिद्ध संख्यातगुण, और उससे छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यात ये तीन वाले संख्यात-गुणा जानना.

प्रत्येक बुद्ध बोधित-प्रत्येकबुद्ध सिद्ध सबसे अल्प, उससे बुद्ध-बोधित नपुंसक सिद्ध संख्यात गुण, और उससे स्त्रीसिद्ध संख्यात गुण और उससे पुरुषसिद्ध संख्यात गुण जानना.

ज्ञान-वर्तमानभाव की अपेक्षा से सब केवलज्ञानी सिद्ध होते हैं। यतः अल्पबहुत्व नहिं है. पूर्वभाव की अपेक्षा से सामान्यतः- सबसे अल्प दो ज्ञान वाले सिद्ध होते हैं। उससे चार ज्ञानवाले सिद्ध संख्यात गुण और तीन ज्ञान वाले सिद्ध संख्यात गुण जानना. विशेषतः—सबसे अल्प मतिश्रुतज्ञान सिद्ध, उससे मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यवज्ञानसिद्ध संख्यात गुण, और उससे मति-श्रुत-अवधिज्ञान सिद्ध संख्यात गुण जानना.

अवगाहना-जघन्य अवगाहनावाले सिद्ध सबसे अल्प, उससे उत्कृष्ट अवगाहना वाले असंख्यातगुण, उससे यवमध्यसिद्ध असंख्यात गुण, उससे यवमध्य के उपर के सिद्ध असंख्यात गुण, उससे यवमध्य के अधःस्तात् सिद्ध विशेषाधिक और उससे सर्व सिद्ध विशेषाधिक जानना.

अन्तर—निरन्तर आठ समय तक सिद्ध हुए सबसे अल्प जानना. उससे निरंतर सात और छ समय तक सिद्ध हुए यावत् निरंतर दो समय तक सिद्ध हुए संख्यात गुण जानना. षण्मासांतरित सिद्ध हुए सबसे अल्प, एक समयांतरित सिद्ध हुए संख्यात गुण, यवमध्य के अंतरित सिद्ध संख्यात गुण, अधो यवमध्यांतरित सिद्ध असंख्यात गुण, उपरि यवमध्यांतरित विशेषाधिक और उससे सर्वसिद्ध विशेषाधिक जानना.

संख्या-एक समय में १०८ सिद्ध हुए सबसे अल्प, १०७ यावत् ५० सिद्ध हुए अनंतगुण, ४९ से लेकर २५ सिद्ध हुए असंख्यातगुण, और २४ से लेकर १ तक सिद्ध हुए संख्यात गुण जानना.

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

शांति प्रिन्टर्स इन्दौर-२